जाति के दीनों को मत त्यागो !

अर्थात्

भारतवर्ष में ईसाई मत कैसे फैला?

(स्रोत : स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली – खण्ड छह)

स्वामी श्रद्धानन्द जी

सम्पादक

डॉ. भवानीलाल भारतीय

1987

गोविन्दराम हासानन्द

नई सड़क, दिल्ली – ११०००६

Ravi Shastri

ओ३म्

स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली

खण्ड छह

'वेद और आर्यसमाज' 'मातृभाषा का उद्धार'
'पारसीमत और वैदिक धर्म' 'जाति के दीनों को मत त्यागो'
'मुक्ति सोपान' 'रामायण रहस्य कथा'
'मनुस्मृति की भूमिका'

सम्पादक

डॉ० भवानीलाल भारतीय
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दयानन्द शोध पीठ,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६

प्रकाशक

विजय कुमार
गोविन्दराम हासानन्द
नई सड़क, दिल्ली-११०००६

संस्करण : १९८७

मूल्य : ६० रुपये

मुद्रक

अजय प्रिंटर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

जाति के दीनों को मत त्यागो !

अर्थात्

७ करोड़ दीनों की रक्षा

प्रस्तावना

इस लघु पुस्तक को आदि से अन्त तक पढ़ जाइये। यदि आपका मन इससे कुछ भी प्रभावित हो तो निर्बलों की रक्षा के लिए, श्रद्धानुसार, धन नीचे के पते से भेज दीजिये।[1] यही इस पुस्तक का मूल्य है।

श्रद्धानन्द संन्यासी
७६, बर्न बैश्चियन रोड, देहली।

---

१. इस अपील में दिया गया पता अब कोई महत्त्व नहीं रखता।

Ravi Shastri

भारतवर्ष में ईसाई मत कैसे फैला ?

भारतवर्ष में रोमन-कैथलिक ईसाई मत का उद्भव और विकास

भारतवर्ष में सबसे पहले जो ईसाई अपने मत का प्रचार करने के लिए आये, वे "रोमन कैथलिक" थे। उस समय तक रोम के 'पोप' के अभ्रांत तथा यहवाह (Jehovah) नामी खुदा के प्रतिनिधि होने पर किसी को सन्देह तक न था। परन्तु जहाँ इधर १५१० ई० में 'अबूकर्क'[1] के साथ रोमन कैथलिक पादरी हिन्दू काफ़िरों को ईसाई बनाने के लिए 'गोआ' नगर में पहुँचे, वहाँ दूसरी ओर जर्मनी में, उनकी पोल खोलने के लिए, मार्टिन लूथर तैयार हो रहा था। प्रोटेस्टेण्ट मिशन आर्यावर्त्त में बहुत वर्ष पीछे आया, उसका इतिहास किसी और समय के लिए छोड़कर यहाँ रोमन कैथलिक पादरियों के धर्म-प्रचार का इतिहास दिया जाता है। यह इतिहास एक अंग्रेजी लेख का अनुवाद है जो (D.X. De Souza) एक पुर्तगीज सभ्य के नाम से मासिक पत्र 'थियॉसोफिस्ट' (Theosophist) के जुलाई वाले अंक में, पृष्ठ ६१२ से ६२३ तक, निकला था—

"रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय का भारतवर्ष में प्रचार करने के लिए किन-किन उपायों का आश्रय लिया गया, इस विषय में रोमन कैथोलिक लोगों की ही सम्मति मान लेना हमें पूरी-पूरी सचाई तक नहीं पहुँचा सकता। उनके कथनों में अपने गुणों को बढ़ाकर तथा दोषों को घटाकर दिखाने की कोशिश की गई है। वास्तव में भारतवर्ष में कैथोलिक सम्प्रदाय का इतिहास धोखेबाजी तथा कठोर अत्याचार का इतिहास है जो कि रोमिश चर्च को सर्वथा कलंकित करता है।"

जब से भारत की खोज-विषयक प्रयत्न प्रारम्भ हुए तभी से रोमन पादरी इस खोज के परिणामों की प्रतीक्षा करने लगे और ज्यों ही वह पूर्ण हुई त्यों ही उन्होंने अपने धर्म के प्रचार की ठान ली। १६वीं शताब्दी से पहले-पहले इस सम्प्रदाय का भारत में जोर न था, पर पुर्तगाल के राज्य तथा Inquisition (काफ़िरों का दण्ड-गृह) के ज़ोर से कैथोलिक चर्च ने धीरे-धीरे भारत में अपना रोब पैदा कर लिया। पोर्चुगीज पोप की सहायता से ही उपनिवेशों को ढूँढते तथा उसकी

---

१. वास्तविक नाम एलबुकर्क।

आज्ञानुसार अपने धर्म के प्रचार के लिए हर तरह के अत्याचार करते थे। महाशय अर्विंग के कथनानुसार मसीह के शत्रुओं का पराजय तथा अपने धर्म-मन्दिरों का जगह-जगह खड़ा कर देना ही उनका उद्देश्य था। चौथे पोप Eugenius तथा उसके उत्तराधिकारियों ने अपने अधिकार से पुर्तगाल के राजा को यह स्वीकृति दे दी थी कि केपनन और बोजैडर से लेकर ईस्टइण्डीज़ तक जो नये-नये उपनिवेश वे ढूंढ सकें वे सब उन्हीं को दे दिए जाएँगे। पुर्तगाल के राजाओं ने पोप से यह अधिकार पाकर कॉन्स्टण्टीनोपॅल और उसके उत्तराधिकारियों की तरह मसीह पर विश्वास न करनेवालों पर न्याय तथा दया को एक तरफ करके बहुत ही अत्याचार किए, जिनमें से भारत में किए गये अत्याचारों का इस लेख में वर्णन होगा।

भारत में पुर्तगाल साम्राज्य की स्थापना एलबुकर्क (Alfousode Albuquerque) ने की। १५१० ई० में इन महाशय ने कुछ धर्मोपदेशकों समेत गोआ नगर में प्रवेश किया। ये सब उपदेशक Dominic Guzwan की Toulouse में स्थापित की हुई संस्था के मेम्बर थे। इस संस्थापक की कठोरता का वर्णन करता हुआ कवि Dante (दान्ते) कहता है—

"उसकी मौसी ने उसे मसीह के अर्पण कर दिया था। वह क्राइस्ट का प्रेम-भाजन दास था। स्वधर्मियों के प्रति वह कोमल तथा विधर्मियों के प्रति अत्यन्त कठोर था। विधर्मरूपी चट्टान के लिए वह पहाड़ी नाले के समान था और जहाँ वह चट्टान मज़बूत थी वहाँ उसका वेग भी असहनीय हो जाता था।"

ऐसे संस्थापक के खूनी झण्डे के नीचे उसी तरह के आदमी आ मिले। ये नये चेले अपने-आपको मसीह का शिष्य कहते थे परन्तु शैतान के काम करते थे। उनकी कमर पर लिपटी हुई रस्सी ही सूचित करती थी कि ये किसी को भी बाँधकर उससे दासत्व के व्यवहार करने में सर्वथा निपुण हैं। गोआ की दुर्भागी प्रजा आदिलशाह के अत्याचार से पीड़ित होकर अपने नये प्रभुओं की तरफ आशा तथा आनन्दभरी दृष्टि से देखने लगी। उसने अपने नूतन स्वामियों का गद्गद हृदय से अभिनन्दन किया, उसके जुलूस के निकलते समय उनपर रुपयों की वर्षा की। उन्हें क्या मालूम था कि इस आनन्द का आँसुओं में अन्त होगा, पुरुष तथा स्त्रियों को जीते-जी आग में जलाया जायगा और उनके पवित्र मन्दिरों की जगह St. Dominic के गिर्जाघर एवं Inquisition के महल खड़े किए जाएँगे। गोआ की प्रजा के अभिनन्दन का आनन्द लूटता हुआ अबूकर्क[1] सजे हुए घोड़े पर बैठकर सैनिकों तथा धर्मोपदेशकों के अन्दर घिरा हुआ आदिलशाह के महल की तरफ बढ़ने लगा। पादरी गीत गाने लगे और उनकी ताल पर तुरही तथा ढोल बजने लगे।

---

१. एलबुकर्क।

ये उपदेशक पोप के मिशनरी न थे। इन्हें केवल जहाज़ में पुजारियों का काम करने को भेजा गया था। भारत में आकर उन्होंने St. Catherine की यादगार में एक मन्दिर खड़ा किया क्योंकि उसी के त्योहार के दिन उन्होंने मुग़लों से गोआ शहर को लिया था। मन्दिर की वेदी पर St. Catherine का चित्र लटकाकर उन्होंने बड़ी सजधज से राज्य प्राप्त करने के उपलक्ष्य में उत्सव मनाया और पूजा-पाठ किया। इस समय वे एक ऐसे देश में थे जहाँ प्रकृति का हाथ खुला था परन्तु जहाँ के लोग स्वार्थी एवं क्षुद्रमनस्क थे। उन्होंने देशियों को चर्च में लाने की कोशिश की परन्तु वह निष्फल हुई, क्योंकि अबूकर्क[1] की आज्ञानुसार अभी तक धमकियों और अत्याचारों का प्रयोग नहीं किया गया था। अबूकर्क[1] योद्धा होने के साथ-साथ राजनीतिज्ञ भी था और समझता था कि सरकार के लिए धर्म-सम्बन्धी कार्यों में हाथ न डालना ही हितकर है। उसने आज्ञा दे दी थी कि ईसाई मत-प्रचार शिक्षा तथा युक्तियों के द्वारा ही किया जाय। परन्तु शिक्षा और युक्तिएँ कट्टर मूर्तिपूजकों को कहाँ जीत सकती थीं? वे घृणित मूर्तियों को घृणित ढंगों से पूजते ही रहे। इस मूर्तिपूजा को हटाने के लिए पीछे से पोर्चुगीज़ सरकार ने जिन अमानवीय कठोर अत्याचारों का आश्रय लिया उनसे मूर्तिपूजा का निस्सन्देह नाश हो गया, परन्तु उसके साथ-साथ भारत के एक बड़े भारी समृद्धिशाली देश का और वहाँ के रहनेवाले लोगों की जातीय सत्ता का भी अन्त हो गया। हम कैथलिक सम्प्रदायवालों से पूछते हैं कि क्या यही तरीका भारतवर्ष में धर्म, दया और न्याय के मन्दिरों को स्थापित करने के लिए रह गया था? लॉर्ड मैकाले ने ठीक कहा है कि हिन्दू मूर्तिपूजकों की अपेक्षा रोमन कैथलिक सम्प्रदाय के अनुयायियों में कहीं ज्यादह कट्टरपन है। हमारी सम्मति में हिन्दुओं को शिवलिंग की उपासना करने देना तथा रुधिर की प्यासी काली पर अपना लहू बहाने देना उन्हें ज़िन्दा आग में जला देने की अपेक्षा कई दर्जे अच्छा था। नीरो ने ईसाइयों पर उनके ईसाई होने के कारण नहीं परन्तु अपनी सम्मति के अनुसार उनके अनुचित तथा घृणित कार्य करने के कारण अत्याचार किए थे, परन्तु भारत में आये हुए इन ईसाइयों ने यहाँ के मूर्तिपूजकों पर केवल मूर्तिपूजक होने के कारण ही अत्याचार किए। जब रोम में ईसाई मत का प्रचार न था तब प्रजा जिस मत को चाहती मानती; देश में दंगे-फसाद के कारण दंड मिलता था, किसी धर्मविशेष का होने के कारण नहीं, परन्तु पुर्तगाली ईसाइयों ने विधर्मिता को ही दण्ड देने का पर्याप्त उत्तर समझा और अत्याचार प्रारम्भ कर दिया। इस दृष्टि से ब्रिटिश सरकार ने बहुत देर तक ईसाई मत का प्रचार करनेवालों को खुल्लमखुल्ला कोई सहायता न देते हुए बड़ी बुद्धिमत्ता का परिचय

१. एलबुकर्क।

दिया है। यदि इस तरह का काम न किया जाता तो ब्रिटिश सरकार आज भारत में न होती और इसके साथ-साथ भारत में ईसाइयत के प्रचार का अत्युत्तम मौका उसके हाथ से कभी का निकल गया होता।

भारतवर्ष में पुर्तगाल के राज्य की स्थापना का समाचार पोप के कोर्ट में बड़े हर्ष से सुना गया। इस समय तक ये लोग अत्यन्त गिर चुके थे। पोप के दरबारी बाइबिल की उपदेशपूर्ण आयतों को लेकर उनपर मखौल उड़ाया करते थे। शराब के नशे में मस्त हुए धर्मोपदेशक मिलकर खूब ही हँसते थे और कहते थे कि देखो हम लोगों को कैसे मज़े में ठगते हैं। इसी कोर्ट (Court of Rome) का वर्णन करते हुए मैकाले ने बहुत ही ठीक कहा है :

"ईसाइयत के माथे पर यह कोर्ट कलंक का टीका हो गई थी। इसके इतिहास के पत्रे धोखेबाज़ी और दग़ाबाज़ी से काले पड़े हैं। इनमें से जिन्हें अच्छा गिना जाता था वे भी धर्म-कर्म के लिए सर्वथा अयोग्य थे।......वे अपने धर्म की अपने-आप हँसी उड़ाते तथा विषय-वासना में दिन बिताते थे। तरह-तरह के पकवान, मज़ेदार शराबें, सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ, शृंगार रस, सरकस तथा अन्य इसी तरह की गिरावट की बातों में ही वे आनन्द लेते थे—यही बातें उनके जीवन के बड़े-बड़े काम समझे जाते थे।"

ऐसे लोगों के लिए धर्म के चोले ने खूब काम दिया। दसवें Leo ने सर्व-साधारण के सन्मुख आकर भारत पर विजय के लिए बड़ी प्रसन्नता ज़ाहिर की; बड़े रंग-ढंग हुए, पोर्चुगीज़ राजा की प्रशंसा के पुल बाँधे गये और प्लेटफॉर्म गुँजा दिए गये। Emanuel ने इस अवसर पर पोप के पास एक दूत को उपहार देकर भेजा जिससे प्रसन्न होकर पोप ने उसे बड़ा सन्मान प्रदान किया और साथ-ही-साथ पुर्तगाल के राजा को यह भी अधिकार दे दिया कि केपनन और Bojador से लेकर Indies तक ही नहीं अपितु दुनिया-भर में जहाँ कहीं भी कोई अब तक अज्ञान-भूमि उसके हाथ लगे वह उसी को दे दी जायगी।

कैथलिक पादरी कई तरह के होते हैं। ग्रे, ह्वाइट तथा ब्लैक कापर भी उन्हीं के भेद हैं। भारत का पता लगाते ही पोप की तरफ़ से ये पादरी नास्तिकता का नाश करने के लिए जहाज़ों पर लादकर भेजे गये। सबसे पहले ग्रे पादरियों का भारत में प्रवेश हुआ। ये लोग अपने-आपको बड़ा पवित्र दिखाते थे परन्तु वास्तव में बड़े ही घृणित आचार के थे। धन को हाथ लगाना उनके लिए पाप था परन्तु वे कुबेर के-से खज़ाने के मालिक थे। १५१७ ई० को वे गोआ नगर में पहुँचे। इसी समय युरोप में इन्हीं लोगों के साम्प्रदायिक भाई गाँव-गाँव पापों की क्षमा टकों में बेचते फिरते थे। इनकी "पापों की क्षमा" बेचने की दुकानें धर्म-मन्दिरों तक ही परिमित न थीं अपितु ये धर्मशालाओं तथा वेश्याघरों में भी जाकर अपना व्यापार बढ़ाते थे। इन्हें १२ टके देकर अपने पिता को सब पापों से छुड़ा लेना

और ८ टके से आत्महत्या कर उसके पाप से बच जाना उस समय साधारण बातें हो गई थीं। इसी वर्ष Martin Luther ने अपने ९५ सिद्धान्त Wittenberg के मन्दिर के दरवाज़े पर कील दिए थे और जर्मनी में सुधार का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार जिस वर्ष भारत में रोमन कैथलिक सम्प्रदाय ने पाँव रक्खा उसी वर्ष युरोप में प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय की भी स्थापना हुई।

भारतवर्ष में आए ग्रे फ्रायर्स की संख्या पोर्चुगीज इतिहासिकों के कथनानुसार ९ थी। वे लोग पुर्तगाल के राजा Emanuel से एक पत्र लाए थे जिसमें उन्हें उनके काम में सहायता दिए जाने को लिखा हुआ था। उन्होंने आते ही खूब धन-राशि एकत्रित कर बड़ा भारी शानदार चर्च खड़ा किया जिसे अपनी संस्था के संस्थापक St. Francis of Assisi को समर्पित कर दिया। अब वे विधर्मी भारतीयों को ईसाई मत स्वीकार करने के लिए प्रेरित करने लगे।

जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय के हिन्दू बड़े धार्मिक हुआ करते थे। लैवाइट की तरह पवित्रता तथा प्रतिष्ठा में ब्राह्मण सबसे उच्च समझे जाते थे। रोम के पोप की तरह अध्ययनाध्यापन पर ही ब्राह्मणों का एकाधिकार था, अतः साधारण जनसमुदाय सर्वथा अन्धकार में था। साधारण लोग प्राकृतिक विज्ञान से तथा उन विषयों से जिनका सीधा सम्बन्ध उनसे उन्हें कोई प्रतीत न होता था, अपरिचित थे; रोग, वर्षा, दुर्भिक्ष आदि की बातचीत तक ही उनका ज्ञान परिमित था। उस समय के हिन्दू प्राकृतिक घटनाओं का कारण देवताओं को बताते थे और समझते थे कि प्रार्थना, यज्ञ तथा बलिदान आदि से वे बादलों का रुख बदल सकते हैं, भयंकर रोग उत्पन्न करनेवाले देवता और राक्षसों को शान्त कर सकते हैं, ब्राह्मणों को दान देकर वे पापों से छुटकारा पा सकते हैं। विश्वास करते थे और कहते थे कि कठोर तपस्याओं तथा अन्य शारीरिक कष्टों के सहनेवाले को मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग प्राप्त होता है। ऐसे विश्वासोंवाले लोगों को, जो कि रोमन कैथलिक सम्प्रदाय से बहुत-कुछ मिलते-जुलते थे, ठग लेना कोई कठिन काम न था। ग्रे फ्रायर्स की बच्चों को लुभानेवाली कहानियाँ यहाँ के लोगों पर बड़ा असर करती भी थीं, परन्तु उनका अपने विश्वासों पर अन्धविश्वास उन्हें हिन्दू धर्म से हटाकर क्रिश्चियन न बना सका।

बस फिर क्या था, पशुता ने अवतार ले लिया! १५१५ ई० में अबूकर्क[1] पहले ही मर चुका था; अब रोकनेवाला कौन था? ऊँचे ओहदों पर बैठे अधिकारी भी छटे हुए ही थे। उन लोभी, विषयी तथा अन्धविश्वासियों ने भारतीयों पर हज़ारों तरह से अत्याचार प्रारम्भ कर दिए। हिन्दुओं की स्मृतियों में निषिद्ध किए गये मांस तथा शराब उनके मुखों में ठोंसे गये। उनकी सभ्यता में

---

१. एलबुकर्क

पली कोमलाङ्गी स्त्रियाँ घरों से घसीटकर पोर्चुगीज़ों की विषय-वासना को तृप्त करने तथा उनकी नौकरानियाँ बनने को लाई गईं। भिन्न-भिन्न राजनियम बनाकर उनके धार्मिक त्यौहार रोके गये। हिन्दुओं के पुरातन देवगृह गिराकर बड़े-बड़े शानदार चर्च खड़े किए गये; हिन्दू प्रतिमाओं को तोड़-फोड़कर नए-नए देवताओं की मूर्तियाँ रक्खी गईं। सरस्वती और लक्ष्मी की पाषाणमयी मूर्तियों की जगह मरियम की लकड़ी की मूर्ति खड़ी कर दी गई। शिव की जगह St. Dominic, मन्त्रों की जगह Aves तथा तीर्थ की जगह Holy water लाए गये। इन अत्याचारों से ईसाइयत का भारत में आना जातियों को खा जानेवाली प्लेग से भी कई गुना बुरा हुआ। ईर्ष्या की अग्नि से प्रज्वलित होकर ईसाइयों ने मुसलमानों के स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े बिना देखे खूब ही क़त्ल किए। देश में हाहाकार होने लगा। ऐसी अवस्था में लोग अबूकर्क[1] की कब्र पर त्राहि-त्राहि का क्रंदन करते हुए पहुँचे; रोए, पीटे और उससे अपने देशवासियों के अत्याचारों से उन्हें छुड़ाने की प्रार्थना की। अन्त में तंग आकर अपने मुसलमानी भाइयों के भाग्य से बचने तथा फिरंगियों के न होने के लिए उन्होंने धर्म-परिवर्तन ही अच्छा समझा। कैथलिक सम्प्रदाय ने उच्च शिखर पर पहुँचने के लिए अपना रास्ता इस तरह छोटा कर लिया। १७ वर्ष के भीतर-ही-भीतर मालाबार से लेकर कोरो-मण्डल तक सबको अपने चर्च में ले आया। इन नये ईसाइयों के लिए जो नियम बनाए गये थे उनमें से मुख्य कई सिद्धान्तों के सारांश ज़बानी घोटना और जो प्रतिष्ठा तथा सत्कार वे काली, महादेव तथा अन्य देवताओं के प्रति दर्शाते थे वही सब ईसा की मूर्तियों के प्रति दर्शाना थे। बिधर्मी मत ग्रहण करने के कारण उन्होंने जो अपने देवताओं का अपमान किया था उसके लिए वे चुपके-चुपके उनसे क्षमा माँगते रहते थे। ईसाइयों में आज भी हज़ारों ऐसे ईसाई हैं जो नाम के सिवाय अपने हिन्दू भाइयों से किसी बात में भी भिन्न नहीं हैं।

इस समय तक Clement सातवाँ मर चुका था और Paul तीसरा उसका उत्तराधिकारी बना था। इस पादरी का स्वभाव उस समय की इटैलियन समाज के अनेक दोषों से दूषित था। उसका चरित्र-लेखक ठीक कहता है कि उसके अन्दर चिकने-चुपड़े पतित तथा विषयी लोगों के गुण-दोष दोनों ही विद्यमान थे। यद्यपि Paul स्वयं धर्मशून्य था तथापि प्रारम्भ से ही इसकी इच्छा पोपडम को खूब मजबूत करने की थी। उसने नये-नये मठ खोल दिए और पुरानी Inquisition की प्रथा को पुनर्जीवित किया। विधर्मिता को दुनिया से सर्वथा नष्ट कर देने की नई-नई शक्तियाँ Inquisition को दी गईं। नये खड़े किए गये मठों में से Order of the Theatriues तथा The Company of Jesus भक्ति

---

१. एलबुकर्क।

तथा जोश में सबसे बढ़े-चढ़े थे। इस तरह के शस्त्रों को हाथ में ले पोप ने क्राइस्ट के चर्च के उद्धार की मन में ठान ली। भारत में मिशनरियों की कृतकार्यता से पहले ही वह आनन्द में फूला न समाता था। बस उसने अपने धर्म के प्रचार के लिए इस नई सेना को तैयार कर भेज ही दिया।

Francis Xavier इनका मुखिया था। यह बड़ा जोशीला था परन्तु पढ़ा-लिखा थोड़ा ही था। Loyola के साथ इसने मेल कर लिया था और गरीबों में जीवन बिताने की प्रतिज्ञा कर ली थी। Loyola की तरह उसने अपना जीवन काफ़िरों को सच्चे धर्म का रास्ता दिखाने के लिए अर्पित कर दिया। इसकी तपस्याओं से लोग चकित हो गये। वह अपने हाथ-पाँव को बाँधकर प्रार्थना करने खड़ा हो जाता था और जवानी की मूर्खताओं को शारीरिक तपस्याओं द्वारा दूर करता था। उपवास इतना करता था कि हड्डियाँ निकल आती थीं। रोगियों की अत्यन्त ही सेवा करता था। भारतवर्ष में आकर गोआ से रासकुमारी[1] और रासकुमारी से जापान तक उसने एक-एक गाँव और शहर में प्रचार किया। यह काम किसी साधारण जोशवाले आदमी का न था। वह सदा अपने हाथ में एक घंटी रखता था जिसे बजाकर राहियों को इकट्ठा कर उन्हें बाइबिल का उपदेश देना प्रारम्भ कर देता था। जहाँ वह कुछ-एक को अपने धर्म में न ला सकता था वहाँ से चलते समय अपने जूतों की मिट्टी उसी पापियों के देश में झाड़ देता था। इस तरह के भ्रमण में उसे कई बुरी आत्माओं (Devils) ने बड़ा तंग किया; कभी उसे धमकातीं और कभी निर्दयता से मारतीं। इतना ही नहीं, अपने मित्रों की आत्माएँ भी चर्म-चक्षुओं में दीख पड़ती थीं। कभी-कभी तो वह परमेश्वर को अपने स्वागत के लिए नीचे उतरता देखता था। उसके इस जोश ने उसे पागल-सा बना दिया। वह कभी-कभी पागलों की तरह गोआ की गलियों में भागने लगता था, ईसा की मूर्ति के पाँव पर जा लेटता था और कई घण्टों वहीं पड़ा-पड़ा चिल्लाता रहता था। इस पागलपन से उसने कइयों को ईसाई बनाया। १० वर्ष के बाद उसकी मृत्यु हुई, परन्तु उसके गुणों का आदर करने के लिए ऐसे चर्च थे जिन्होंने उसे सेण्ट की उपाधि प्रदान की।

The Company of Jesus (Jesuists) जिसका संस्थापक Ignatius Loyola था इस समय तक आशातीत बढ़ चुके थे। उनकी संख्या भी काफ़ी हो गई थी। १५५२ में Xavier की मृत्यु के समय २०० से अधिक Jesuits भिन्न-भिन्न मन्दिरों में काम कर रहे थे। उनका मुख्य स्थान गोआ ही था। यहाँ कुछ ही वर्षों में उन्होंने हिन्दू मन्दिरों को मलियामेट कर १० शाही मन्दिर खड़े किए और नये मुँडे चेलों के लिए धार्मिक पाठशालाएँ भी स्थापित कीं। परन्तु इन

१. वर्तमान में इसे कन्याकुमारी के नाम से जाना जाता है।

अत्याचारियों के मुख से ईसा की दया की शिक्षा सजती न थी। Thomas Miloni कहते हैं—

"जो जाति क्राइस्ट से सर्वथा विपरीत थी, उसके मुख से क्राइस्ट की शिक्षा अत्यन्त ही हास्यास्पद प्रतीत होती है। Jesuits ने मानो आचार की नई ही स्मृति कल्पित कर ली थी। परमात्मा की आज्ञा के स्थान में उनके लिए अफ़सरों की आज्ञा थी। उस आज्ञा का पालन करने का मतलब उनके लिए आँख बन्द कर लकड़ी की तरह उनके कथनानुसार चलना था। शिक्षकों की दृष्टि से उनका काम शिक्षा फैलाना इतना न था जितना पादरियों का दबदबा पैदा करना था; प्रचारकों की दृष्टि से उनका काम बाइबल का प्रचार इतना न था जितना हाथ से बप्तिस्मा दे देना था।"

इन लोगों ने हिन्दुओं और मुसलमानों को ईसाई बनाने के लिए सब तरह के प्रलोभन दिए, तमिल तथा अन्य भाषाओं में ट्रैक्ट छपवाकर बाँटे; परन्तु असर बहुत थोड़ा हुआ। इस समय १५८२ सन् के लगभग ईसाई मत के सिद्धान्त ठीक-ठीक समझने के लिए अकबर ने Jesuits को अपनी कोर्ट में निमन्त्रित किया और ईसा के जीवन-चरित्र के विषय में पूछा। चालाक पादरियों ने यह समझकर कि पूर्वीय लोगों को जादू-टोने की बातों के सिवाय कुछ पसन्द ही न आएगा खूब बढ़ा-चढ़ाकर कथा सुनाई। परन्तु अकबर ताड़ गया और उनकी चालाकी समझ गया। उसने उन्हें कोर्ट से बाहर कर दिया। ये लोग बाइबल का यथार्थ उपदेश न देकर भारत के प्रचलित कथा-किस्सों के अनुसार उसे सुनाते रहे और इसी तरह की अन्य चालाकियाँ करते रहे। रोम से किन्हीं की खोपड़ियाँ उठा लाए और अफवाहें फैलाने लगे कि इन हड्डियों ने चमत्कार किए हैं। मूर्तियों को छिपी हुई तारों से हिला-हिलाकर दिखाते और कहते कि इन्हें परमेश्वर हिलाता है। किन्हीं कब्रों को देखकर अपने सेण्टों की कब्रें बताने लगे। हड्डियों को लेकर लड़ते और कहते कि हम शैतान से लड़ रहे हैं। उन लोगों ने इतने धोखे किए कि उनको गिनाने के लिए ही कई बड़े-बड़े पोथे तैयार हो जायँ। जहाँ ईसाइयों की धोखेबाजी से लोग अपरिचित थे वहाँ इन्हें कृतकार्यता भी हुई; परन्तु अन्यत्र स्थानों में उनकी शोचनीय दशा हुई। गोआ के लोग इन्हें भली-भाँति समझ गये थे अतः उनपर इनके धार्मिक धोखे, ठगविद्याएँ, रिश्वतें और प्रलोभन कारगर न हुए। सचमुच ईसाई धर्म के नाम को पोर्चुगीजों की धूर्तता ने बदनाम कर दिया था। उनका आचार पतित-से-पतित भी हिन्दू के आचार से नीचे था। उनका राज्य भी इसी तरह का था। हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए कठोर-से-कठोर नियम बनाए जाते, बड़ी-बड़ी नौकरियाँ बेशरमी से खरीदी और बेची जातीं। भारतीय ईसाइयों को अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखते थे। फिरंगी होना, नहीं-नहीं, उसकी छाया का भी पड़ जाना मनुष्य को पतित समझने के लिए

पर्याप्त था। ऐसी अवस्थाएँ देख ज़बरदस्ती से ईसाई बनाए गये लोग फिर से अपने धर्मवालों की तरह रहने लगे। वे क्रिश्चियन परमात्मा की ज़रा भी परवाह न करते थे, वे उनके धर्म पर हँसते थे।

पादरियों ने अपनी ऐसी अवस्था होते देख पोप और पोर्चुगीज राजा के सामने फ़रियाद की। इस समय Caraffa चौथा पोप कहलाता था। इसका सारा काम Inquisition की प्रथा को पुनर्जागृत करना था। पोप बनते ही इसने Inquisition के अधिकार बढ़ा दिए और नये-नये अपराध घड़ लिये। पादरियों की प्रार्थना से पोप की आज्ञा पालनेवाले पोर्चुगीज़ राजा ने अपने वाइसराय को कहला भेजा कि इन धर्म-पण्डितों की यथाशक्ति तन, मन, धन से सहायता की जाय। इस सहायता को पाकर उन पादरियों ने जिस पशुता का आश्रय ले फिर से अपना कार्य प्रारम्भ किया, उसका वर्णन करते लेखनी काँपती है। तहखानों में बन्द करना, सूली पर लटका देना, जीते को जला देना, टाँगें पकड़कर चिरा देना, जंजीरों से जकड़ देना, अँगूठों पर पेंच डाल देना तथा इसी तरह के अत्याचारों का गोआ घर बन गया। थोड़े ही समय में Inquisition के एजेण्ट Dominicans पुर्तगाली भारत के गाँव-गाँव में दीखने लगे। उनका अखाड़ा मालाबार कोस्ट था। यहाँ अत्यन्त निर्दयता से क़त्लेआम शुरू हो गया। St. Francis और St. Dominic के मन्दिरों के सामने आग जलने लगी। हिन्दू-मुसलमान सबपर खूनी अत्याचार होने लगा। चाहे कोई किसी ओहदे का हो, किसी उम्र का हो, कितने ही प्रभाव का हो, यदि वह क्रिश्चियेनिटी से विरोध दिखाता था तो वह रात के १२ बजे Inquisition की अँधेरी खुड्डों में बन्द किया जाता था और अन्त में धधकती ज्वालाओं में स्वाहा किया जाता था या गला घोंटकर मार दिया जाता था।

जातियों के मनुष्यत्व का नाश कर उन्हें दास बनानेवाले, पुर्तगाल के शासन को भारत से उठा देनेवाले, ईसाइयत को बदनाम करनेवाले, भारतीयों की धन-दौलत छीनकर उसपर पलनेवाले रोमन पादरियों के अत्याचारों ने १७वीं शताब्दी में भयंकर रूप धारण कर लिया। उनके पैशाचिक अत्याचारों का वर्णन करने के लिए इतिहास-लेखक के लिए शब्द ढूँढना भी मुश्किल हो जाता है। पुर्तगाल के शासन में सबसे ज्यादह धनी तथा आबादीवाला इलाका गोआ का था। यह स्थान व्यापार का केन्द्र था। यहाँ काफ़ी उपज होती थी और दूसरे स्थानों से भी बहुत माल आता रहता था, परन्तु १७वीं शताब्दी में पुर्तगाली भारत के सब स्थानों से निर्धन यहाँ के लोग थे। आजादी यहाँ नहीं के बराबर रह गई। तलवार तथा आग के ज़ोर से रोमन पादरियों ने यहाँ अपनी सभ्यता तथा धर्म का खूब ही परिचय दिया। Inquisition से ही सैकड़ों के गले उतरवा लिये गये, गाँवों को लूटा गया, जलाया गया और नष्ट कर दिया गया। अपनी मातृभूमि

को छोड़कर लोग बाहर भागने लगे, खेत और मकान खाली दिखाई देने लगे। देश में बीमारी और महामारी फैल गई। दुर्भिक्ष से सैकड़ों भूखे मर गये। देश के शासक इन आपत्तियों के हटाने की चिन्ता छोड़ पादरियों के साथ मिल, परमात्मा की सहायता की याचना करने लगे। प्रार्थनाएँ जारी रहीं और आपत्तियाँ बढ़ती गईं। जनसंख्या अत्यन्त घट गई। सरकार की आय घटने लगी। इस समय डच लोग सुमात्रा और जावा में व्यापार कर रहे थे। उन्होंने पोर्चुगीज लोगों पर आक्रमण किए और ५० वर्ष के भीतर-ही-भीतर कुछ-एक स्थानों को छोड़कर पोर्चुगीजों के सब बन्दरगाहों को अपने कब्जे में कर लिया। इस प्रकार १७वीं शताब्दी के अन्त में पुर्तगाल का भारत में शासन सर्वथा जाता रहा।

गोआ शहर अब भी राजधानी था, परन्तु गोआ की पुरानी शान अब जाती रही थी। दर्शक के सामने सूने घर और सूनी गलियाँ ही दिखाई देती थीं। चारों तरफ़ सत्यानाश के चिह्न देखने में आते थे। इस सुनसान के होते हुए भी Inquisition की आग तथा अन्यान्य भयंकर दण्ड देने के अपने काम में लगे ही रहते थे। तहखानों से दीन पुरुष तथा स्त्रियों का हृदयविदारक क्रन्दन सुनाई देता था। परन्तु इन पाशवीय राक्षसों के दृश्य को हिलाने के लिए यह सब पर्याप्त न था। भारत में अपने स्थापना-दिवस १५६० ई० से लेकर अपने राज्य के आखिरी दिन १८१२ ई० तक, २५२ वर्ष तक लगातार ये लोग अपना काम करते ही रहे। इस दीर्घकाल में केवल एक बार इन अत्याचारों को रोकने का सरकार की तरफ़ से प्रयत्न किया गया। पुर्तगाल के बड़े भारी राजनैतिक नेता Marquis of Pombal ने अपने देश के अत्याचारों तथा Inquisition के अमानुषीय व्यवहारों को सुन अपने देश के राजा King Joseph को चिट्ठी लिखी, जिससे १७७४ में ये अत्याचार रुक गये। जिनको निरपराध पकड़ा हुआ था उन्हें छोड़ दिया गया और पादरियों के ख़जाने खाली कर वह रुपया जनता के खजाने में रक्खा गया। परन्तु १७७७ में Joseph के मरने के उपरान्त उसकी लड़की Dona Maria ने महारानी बनकर पुराने रीति-रिवाज फिर से जारी करवा दिए और एक बार बीच में रुककर Inquisition का फिर से प्रारम्भ हुआ जिसका अन्त १६ जून सन् १८१२ के एक राजकीय पत्र से हुआ।

हमने देख लिया कि १६वीं शताब्दी के अन्तिम हिस्से में Jesuists सम्प्रदाय किस तरह भारतीयों को अपने जाल में फँसाने के लिए अनुचित उपायों का अवलम्बन करता रहा। १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी वे लोग भारत के बड़े-बड़े नगरों में अपनी धोखेबाज़ियों का परिचय देते दीख पड़ते थे। इस समय धोखे देना, अज्ञ मनुष्यों को अपने जाल में फँसाना, अपनी चालाकियों से कट्टर हिन्दुओं को फुसलाना उनका काम था। धोखेबाज़ी इतनी बढ़ी कि इन लोगों ने संन्यासी बनकर अपने धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। हिन्दुओं के धर्म की आड़ में अपने

मनमाने सिद्धान्त ठग-विद्या का आश्रय लेकर फैलाए गये। इस तरह के ठग, संन्यासियों में से Robert De Nobili का नाम सदा के लिए गर्हास्पद है। यह रोमन संन्यासी अपने भाइयों से जुदा हो मदुरा में जाकर एक कुटिया में रहने लगा। इसने मांस छोड़ दिया। चावल, कन्द तथा जंगल की जड़ी-बूटियों पर निर्वाह करने लगा। ब्राह्मणों के सिवाय किसी को अपने पास न आने देता था। वह कहता था "मैं फिरंगी या पोर्चुगीज नहीं—मैं नरोमन राजा हूँ"। एकान्त स्थान में रहकर वह अपने दिन बिताने लगा। धीरे-धीरे चारों तरफ इस सफेद जोगी की ख्याति फैलने लगी। भिन्न-भिन्न देशों से हिन्दू लोग आते, बड़े-बड़े विद्वान् भी आते परन्तु उन्हें अन्दर न आने दिया जाता। तीन-चार बार की प्रार्थना के बाद उन्हें दर्शन करने की आज्ञा मिलती। उसकी भक्ति तथा ईश्वर-प्रेम से आश्चर्यान्वित हो वे लोग उसके मत के अनुयायी होने लगे। समाज के बड़े आदमियों का अनुकरण कर नीच जातियाँ भी उसके मत में आने लगीं। इस तरह Jesuists ने अपने सम्प्रदाय का प्रचार किया। Dominicans और Franciscans को Jesuists का बढ़ना अच्छा न लगा। उन्होंने इनकी शिकायतें कीं परन्तु रोम में Jesuists का दबाव होने के कारण उन शिकायतों पर विशेष ध्यान न दिया गया। यह ठगबाजी १७५९ तक होती रही जब कि Pombal ने आकर इसका प्रतिकार किया।

हम पहले ही कह चुके हैं कि Pombal बड़ा योग्य राजनीतिज्ञ, साहसी तथा शक्तिशाली था; वह वहाँ का मन्त्री था। उसके बुद्धिमत्ता तथा उत्तमतायुक्त शासन का पुर्तगाल बहुत ऋणी है। उसी ने कृषि, व्यापार तथा शिक्षा की वृद्धि के नियमों का प्रचार किया, उसी ने १७५५ के भूकम्प से धूलिसात् हुए Lisbon को फिर से खड़ा किया, उसी ने पोप के सिपाहियों को दण्ड देने का अनुकरणीय साहस दिखाया। १७५१ में उसने एक आज्ञा प्रचारित की जिसके अनुसार Inquisition के अधिकारों पर लगाम डाली गई। उसने कला-कौशल तथा छापेखाने को यथाशक्ति फैलाने का भी भरसक प्रयत्न किया। इससे Jesuists भड़क गये क्योंकि वही एकमात्र Inquisitor व्यापारी तथा कृषक थे। उन्होंने Pombal के प्रत्येक काम में विघ्न डालने का प्रयत्न किया और १७५५ के भयंकर भूकम्प का कारण Pombal के शासन को बताया। यहाँ पर ही बस न हुआ।

Paraguay तथा South America में उन्होंने पुर्तगाल के विरुद्ध विद्रोह कर दिए। वहाँ उन्होंने अपने रुपये कमाने के ढंगों को जारी रखने के लिए अपने राज्य की स्थापना करनी चाही। चार वर्ष तक पुर्तगाल के साथ वे युद्ध करते रहे। Pombal ने बिना सैनिक शक्ति से उन्हें शान्त करने की कोशिश की। पहले उसने प्रार्थना की, फिर धमकी दी। परन्तु दोनों से ही कुछ काम न चला। अन्त में उसने अपने देश में ही उनका फैसला करने का तरीका सोचा। राजा के

पुरोहित को जो कि Jesuist था रुख्सत किया गया, आज्ञा दे दी गई कि कोई भी Jesuist राज की कोर्ट में बिना विशेष आज्ञा के न आने पाए। इन बातों से Jesuists के क्रोध की भी कोई सीमा न रही। उन्होंने Pombal के सुधारों से असन्तुष्ट हुए कुछ जागीरदारों के साथ जत्था बना बदला लेने की सोची। १७५८ की पतझड़ के मौसम में जबकि King Joseph रात को गाड़ी में बैठा महल की तरफ आ रहा था, कुछ विद्रोहियों मे उसपर आक्रमण किया। पूरा अन्वेषण किया गया और उन जागीरदारों को उचित दण्ड दिया गया। परन्तु पादरियों के साथ नम्रता का व्यवहार असम्भव था। उनके उपद्रवों का एक लेखा पोप के पास भेजकर उनका फ़ैसला अदालत से कराये जाने की आज्ञा माँगी गई। Clement the Thirteenth इस समय पोप था। वह Jesuists को चर्च का मुख्य सहायक समझता था। कई महीने तक उसने कुछ भी उत्तर न दिया, परन्तु अन्त में विद्रोह में शामिल Jesuists का अदालत में फैसला करने की अनुमति दी और साथ यह भी प्रार्थना की कि इन परमेश्वर के भक्तों का खून न किया जाय। परन्तु ऐसी नम्रता Pombal को समयोचित न जान पड़ी, अत: उसने उन लोगों को यथोचित दण्ड देने की मन में ठान ली। Gabriel Malagrida को जो कि अपने-आपको परमात्मा का दूत या पैगम्बर बतलाता था, बाँधकर आग में जीते-जी जलाया गया और उसी समय पुर्तगाल के शासनाधीन सब स्थानों से इस सम्प्रदाय के लोगों को निकाल दिए जाने की आज्ञा प्रचारित की गई। गोआ में २२७ Jesuists एकदम पकड़कर कैदखाने में डाल दिए गये। कुछ दिनों बाद उन्हें किश्ती पर चढ़ाकर Lisbon भेज दिया गया। उनके मन्दिर अन्य सम्प्रदायों में बाँट दिए गये जिनका भी १८३५ में वही हाल हुआ, यद्यपि उनके साथ इतनी सख्ती न की गई। उनकी सम्पत्ति १५ लाख रुपयों से भी ज्यादह थी, उसे पब्लिक खजाने में डाल दिया और उनके चर्च भिन्न-भिन्न पादरियों में बाँट दिए गये।

हम कैथलिक सम्प्रदाय की भारत में बढ़ती के इस लेख को समाप्त करते हैं। अब उस तरह के काम नहीं होते। Inquisition के दिन चले गये। लोगों को धोखा देने के दिन चले गये। इस समय भारत की कैथोलिक जनसंख्या दस लाख से ज्यादह नहीं है और बहुत-कुछ १०वीं शताब्दी के योरुप के लोगों की तरह वे अविद्यान्धकार में ही रक्खे जाते हैं। कुछ-एक जिन्होंने पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त कर ली है, अपने मन को विकसित तथा प्रकाशित करने की कोशिश कर रहे हैं। नि:सन्देह वह दिन धन्य होगा जबकि वे लोग इस आत्मिक दासता से स्वतन्त्र होंगे।"

नोट—Jesuit (जेसुइट) शाखा के ईसाई पादरियों ने भारतवर्ष पर जो अत्याचार किये और जो माया और मक्कारी के जाल रचे, उनका विस्तृत वर्णन 'जेसुइटों का इतिहास' नामी पुस्तक में किया गया है। यह पुस्तक थियोडोर

ग्रीसिंगर (Theodor Griesinger) ने जर्मन भाषा में लिखकर सं० ८६६ ई० में छपवाई थी। उसका दूसरा संस्करण १८७६ ई० में निकला। उसी ग्रन्थ का आंगल भाषा में अनुवाद A. J. Scott, M.D. ने किया। उस अनुवाद का तीसरा संस्करण सन् १८९२ में छप चुका था। उक्त ग्रन्थ से पता लगता है कि हिन्दुओं को जबरदस्ती से ईसाई बनाया गया परन्तु दिल से कोई भी हिन्दू ईसाई न होता था। धोखे, मक्कारी और फ़रेब को इस पवित्र मिशन की कृतकार्यता के लिए काम में लाया जाता था। उदाहरण के लिए दो दृष्टांत ऊपर वर्णित पुस्तक से उद्धृत किए जाते हैं—

"...जेसुइट मिशनरी आगे बढ़कर बड़े सरल साधनों से अपने पैर जमाकर ईसाई समाज क़ायम करते थे। ये सरल साधन क्या थे? विधि यह थी कि ये मिशनरी हिन्दुस्तानी पादरियों (अर्थात् ब्राह्मणों) की पोशाक पहनकर हिन्दुस्तानियों के सामने जाते जिससे उन्हें ये इसी देश के निवासी दीखें, और साथ ही जो ईसाई वे अपने साथ लाए थे उनको काफ़िरों (हिन्दुओं) की रस्म-रिवाजों के साथ मिलाकर प्रचार करते थे। हिन्दू केवल बप्तिस्मा लेते, शेष कामों में वे हिन्दू-के-हिन्दू रहते। मेरे लिए यह सुगम है कि उन सब जेसुइटों की पूरी सूची बना दूं जो ब्राह्मण बनकर देश में घूमते थे...परन्तु मैं उनमें से दो दृष्टान्तों पर ही सन्तोष करूंगा, इस आशा पर कि इन दृष्टान्तों से पढ़नेवालों को स्पष्ट विदित हो जाय कि भारतवर्ष में जेसुइटों के काम और कार्यवाही की रीति क्या थी? (१) उनमें से एक "पेटर कान्सटेण्टाइण्टोबेश्ची' था जिसने हिन्दी भाषा और संस्कृत यत्न से सीखी थी, जिसने ब्राह्मणों के रिवाजों, रहन-सहन और शिष्टाचार का यथावत् ऐसा अनुकरण किया था कि दक्षिण के लोग, जहाँ वह चिरकाल तक रहा, उसका सन्त की तरह मान करने लगे......और यतः उसने इस सबके सिवाय, देशभाषा में भजन-पुस्तक भी मुद्रित की इसलिए उसका यश सारे देश में फैल गया। इसका परिणाम क्या हुआ? दक्षिण के शासक ने, उसे सच्चा ब्राह्मण समझकर, अपना मुख्य दरबारी और मन्त्री बनाया और "का० बेश्ची" ने इस भूल को दूर करने की कुछ परवा न की। इसके विरुद्ध प्रशंसित पादरी ने उस दिन से अपने यूरोपियन रहन-सहन और उत्पत्ति को जवाब देकर, बहुमूल्य पूर्वीय पोशाक पहन एक सजे हुए घोड़े पर निकलना शुरू किया अथवा पालकी में दासों के कन्धों पर यात्रा करनी प्रारम्भ की......कोई भी नहीं समझ सकता था कि वह यूरोपियन वा ईसाई है। परन्तु वह अन्त तक ही जेसुइट रहा और उसके मठ के साथी उसपर बड़ा अभिमान करते थे।

(२) इससे दूसरे प्रकार का चित्र "पेटर बार्थेलिमी अकोस्टा" ने दिखलाया जो देश के बड़े आदमियों से मिलने के स्थान में जनता के नीच-से-नीच भाग के साथ मिलता था, परन्तु प्रेरक उसका भी वही भाव था...वह नाचने और पेशा

करानेवाली वेश्याओं के बदनाम घरों को ढूँढकर वहाँ जाता था।……वह उनके साथ खेलता, नाचता और शराब पीता जिससे कि वह उनका अत्यन्त प्यारा मित्र और विश्वसनीय सखा बन गया। वे बेचारिएँ इस (पादरी) से अत्यन्त प्रसन्न हुईं और उन्हें इससे बढ़कर और क्या चाहिए था कि इसके द्वारा बड़ी सुगमता से वे बहिश्त (स्वर्ग) में चली जावें! ईसाई मत स्वीकार करने के मार्ग में उन्हें एक ही रुकावट थी, वह यह कि उन्हें बतलाया गया था कि ईसाई पादरी उनके पेशे को पापमय समझते हैं। इसलिए वे बप्तिस्मा लेने में ढील कर रही थीं। तब प्रशंसनीय पादरी ने क्या किया? उसने उन्हें शिक्षा दी कि ईसाई होकर भी वे अपना पेशा, बिना पापिनी बने, कमा सकती हैं यदि वे अपनी कमाई का कुछ भाग ईसाई चर्च के अर्पण कर दिया करें और जो पुरुष उनसे व्यभिचार करने जावें उन्हें ईसाई बनाने का भरसक यत्न किया करें।……"

इससे बढ़कर लज्जास्पद कहानी और किसी मजहब के प्रचार की सुनने में नहीं आई। भारतवर्ष में वाममार्ग का कुछ काल तक ज़ोर रहा परन्तु उसका भी रोमन कैथलिकों के मठों और विशेषतः पोपों के धार्मिक व्यभिचारों के साथ कुछ मुकाबिला नहीं। कहा जाता है कि इस समय रोमन कैथलिक चर्च में भी सुधार की आवाज़ गूँज उठी है और वास्तविक धर्मभाव उनके अन्दर आने लगा है, परन्तु जब सन् १८७७ ई० के आरम्भ में मैं रोमन कैथलिक ईसाई मत की ओर झुका था,[1] उस समय तक तो इनकी उपर्युक्त लीला ही दिखाई देती थी। उसका प्रकाश कभी समय आने पर ही होगा।

१. द्रष्टव्य—कल्याण मार्ग का पथिक

Ravi Shastri

प्रोटेस्टेण्ट मत कैसे फैला ?

दिल्ली के केम्ब्रिज ईसाई मिशन की कहानी

"दिल्ली मिशन की कहानी" (The story of the Delhi Mission) नाम से एक पुस्तक सन् १९०८ ई० में इंजील प्रसारिणी सभा की ओर से छपवाई गई थी; उसी के आधार पर नीचे का लेख लिखा गया है।

सन् १८३० में एक बेप्टिस्ट मिशनरी ने दिल्ली के बाज़ारों में अपने ट्रैक्ट बाँटने शुरू किए। वह लोगों को आत्मान्दोलन के लिए प्रेरणा करता, परन्तु उसकी कोई सुनता न था। २० वर्ष तक वह निराधार काम करता रहा परन्तु एक भी 'हिन्दुस्तानी' (हिन्दू) को ईसाई न कर पाया। फिर एक जन्म का ब्राह्मण ईसाई "केटिकिस्ट" भी दिल्ली की सड़कों में घूमा, परन्तु उसका पुरुषार्थ भी निष्फल गया।

हिन्दू द्विजों में ईसाई काम

सन् १८५० ई० में रामचन्द्र गवर्नमेंट कॉलिज में उच्च गणित का प्रोफ़ेसर था। निर्धन विधवा का बालक होने से १० वर्ष की आयु में छात्रवृत्ति पर उसने स्कूल में पढ़ना शुरू किया। समय पर वह स्कूल कॉलिज बन गया और रामचन्द्र उसमें एक प्रोफ़ेसर नियत हुआ। उस समय उसकी धार्मिक अवस्था अधिकतर हिन्दू विद्यार्थियों से भिन्न न थी। पश्चिमीय शिक्षा ने हिन्दू विश्वास का नाश कर दिया था और अपने पुरुषाओं की मूर्ति-पूजा को तिलांजलि देकर, किसी प्रकार के एक ईश्वर में संदिग्ध-से विश्वास के द्वारा शान्ति पाने का वह कृत्रिम अमल ज़ाहिर करता था। सब किताबी मज़हबों को वह बेहूदा और झूठे समझता था, भले बैप्टिस्ट मिशनरी के ट्रैक्ट को वह पाँव-तले रौंदता था। कॉलिज के प्रिंसिपल मिस्टर टेलर ने इंजील (Bible) पढ़ने की सम्मति दी थी परन्तु प्रोफ़ेसर······ने समझा कि उस पुस्तक को "इतिहास और साहित्य" की रीति से पढ़ने की सम्मति दी जाती है। गवर्नमेंट के अंगरेज आफिसरों के लिए उसके मन में बहुत गहरा मान था परन्तु उसने वितर्क किया कि "जब हम देखते हैं कि गवर्नमेंट ईसाई मत की शिक्षा देने के लिए यत्न नहीं करती तो माना नहीं जा सकता कि वे ईसाई मत

पर विश्वास रखते हैं।" इस प्रकार हिन्दू प्रोफ़ेसर ने ईसाई धर्म का यत्न से आन्दोलन करने से इनकार में अपने-आपको सचाई पर समझा। (पृ० २, ३)

फिर रामचन्द्र ख्रिस्टीय झंडे के तले कैसे आया? उत्तर मिलता है—"परिवर्तन एक अविचार्य प्रकार से हुआ। ऐसा हुआ कि एक दिन कॉलिज के एक ब्राह्मण विद्यार्थी ने अंग्रेजों को अपनी पूजा करते हुए देखना चाहा और मिस्टर टेलर ने रामचन्द्र को कहा कि किसी आदित्यवार की शाम को उसे "संत जेम्स गिर्जा" में ले जावे। इसलिए केवल कौतूहल से (जैसा कि वह स्वयं कहता है) वह गया और वहाँ बहुत-से अंग्रेजों को देखा जिन्हें वह विज्ञ और व्युत्पन्न समझता था और उनमें से अधिक घुटना टेककर बड़े भक्तिभाव से प्रार्थना करते प्रतीत होते थे। इस सरल घटना ने उसपर बड़ा गहरा असर डाला और जब रामचन्द्र उस रात लौटा तो उसके जीवन का प्रवाह बदल चुका था।" (पृ० ३)

रामचन्द्र क्यों ईसाई हुआ? इसलिए नहीं कि उसने ईसाई मत की छानबीन कर ली थी और उसे अपने पैतृक मत से श्रेष्ठ पाया था; क्योंकि अपने पैतृक मत का तो उसने पाठ ही नहीं किया था और न ही ईसाइयों की धर्म-पुस्तक (बाइबल) के लेखों को ग्राह्य समझकर वह ईसा पर ईमान लाया। उसके ईसाई होने का कारण यह था कि "गवर्नमेंट के अंग्रेज़ आफिसरों के लिए उसके मन में बहुत गहरा मान था।"

और जब उनमें से ऐसे सज्जन जिन्हें वह विज्ञ और व्युत्पन्न समझता था "अधिकत: घुटना टेककर भक्तिभाव से प्रार्थना करते प्रतीत होते थे" तो अधिक सोचने और परखने की ज़रूरत न थी और उसके जीवन का प्रवाह एकदम बदल गया।

धर्म आत्मा का भोजन है, धर्म पर ही आत्मा का जीवन निर्भर है; इसलिए धर्म का सम्बन्ध बाह्य जगत् के साथ नहीं। वह आभ्यन्तर से भी आभ्यन्तर है। संस्कृत कवि ने ठीक कहा है कि **"धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्"** धर्म का तत्त्व आत्मा के अन्दर छिपा हुआ है, अत: साधारण पुरुषों के लिए **'महाजनो येन गतः स पन्थाः'** महापुरुष जिस मार्ग से चलते हैं वही रास्ता है। रामचन्द्र संस्कृत पढ़े न थे, अपने धर्म के मर्म को समझते न थे; धोतीपोश सांसारिक ऐश्वर्य-हीन वेदान्ती पंडितों के पास बाह्य दृष्टि को अपनी ओर खींचने का सामान न था। तब जिन्हें रामचन्द्र ने महापुरुष समझा उन्हीं के पैरों पर जा गिरे। रामचन्द्र के जीवन-चरित्र का लेखक लिखता है—

"जिस (रामचन्द्र) ने बाइबल और लघु पुस्तक मकान के एक कोने की टोकरी में डाल दिए थे अब उन्हें ढूँढकर पढ़ता है; वह ठहरता है और सोचता है; वह पक्षपात को मरोड़ डालता है, अपनी गत अविद्या पर विलाप करता है और अपने आत्मा से प्रश्न करता है कि मुक्ति का मार्ग किधर है? उस (मार्ग) को

प्राप्त करने के लिए वह अपनी गणित को अलग धर देता है और अपना दिल ईसा के द्वारा परमेश्वर की खुली प्रार्थना के लिए खोल देता है और तब ईसाई पादरियों को ईश्वर के दूत समझकर मान करता है, यद्यपि वह उनके पास जाने में अभी निर्बल और अदृढ़ है।" (पृ० ३, ४)

रामचन्द्र ने फिर अपने विचार प्रकट किए जिसपर सारे नगर में कोलाहल मच गया। यह सन् १८५० ई० की घटना है। अभी दिल्ली के क़िले में बूढ़ा बादशाह बहादुरशाह रहता था। उसने भी समझाने को बुलाया, परन्तु वहाँ से रामचन्द्र उल्टा बादशाह के गुलाम के लड़के गुलामनिसार को, उसके परिवार-सहित, उकसा लाया और उन्हें ईसा की भेड़ों में दाखिल कर दिया। रामचन्द्र ने अन्त को बड़ी हलचल के पीछे, दिल्ली के असिस्टेंट सर्जन **चिमनलाल** सहित, बपतिस्मा लिया। चिमनलाल कलकत्ता के प्रसिद्ध "डॉक्टर डफ" के प्रभाव में आकर पहले ही तैयार हो चुका था। इन दोनों की पत्नियाँ भी तीन और नौ वर्ष पीछे ईसाइन होकर अपने पतियों के पास जा पहुँची थीं।

सन् १८५७ ई० के ग़दर में अंग्रेज ईसाइयों के साथ डॉक्टर चिमनलाल तो मारे गये थे और मुसलमानी मत से ईसाई हुए भी न बचे, केवल प्रोफ़ेसर रामचन्द्र अपने हिन्दू सम्बन्धियों के यहाँ छिपकर बचे। ग़दर समाप्त होने पर इंगलिस्तान से नए पादरी **स्केलटन** साहब आ गये और मिशन का काम फिर से शुरू हुआ। पहले **ताराचन्द** को बप्तिस्मा दिया गया। वह कुछ दिनों कलकत्ते में शिक्षा पाकर पहले दिल्ली में काम करते रहे और रेवरेण्ड पादरी बनकर अजमेर चले गये। उनकी दो लड़कियाँ दिल्ली मिशन में काम कर रही हैं।

मिस्टर स्केलटन के दिल्ली पहुँचने से एक सप्ताह पीछे ही चन्दूलाल ईसाई होने को तैयार हो गये। ताराचन्द और चन्दूलाल, दोनों प्रोफ़ेसर रामचन्द्र के प्रयत्न से ईसाई हुए। व्यक्तिगत विश्वास पर जैसे ईसाई मत की बुनियाद है, उसी प्रकार व्यक्ति से व्यक्ति खमीर लेकर ईसाई बनता गया।

सन् १८६८ ई० के मई मास में जानकीनाथ ईसाई बने। वह अपने ईसाई बनने के प्रेरक कारणों का वर्णन करते हुए लिखते हैं—"मैं एक ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ था जिसका जनता में मान था और जिसे देवता की तरह लोग पूजते थे। यदि मनुष्य की दृष्टि से देखें तो वह अच्छा परिवार समझा जा सकता है। यदि अब मेरे मन की दशा वही होती तो मैं उसका अभिमान कर सकता था। परन्तु एक शब्द में मैं कह सकता हूँ कि मेरी उसके विषय में क्या सम्मति है—यह एक **मूर्ति-पूजक परिवार** था। मूर्ति-पूजक परिवार एक सफ़ेदी पोती हुई क़ब्र है। मनुष्यों की दृष्टि में यह प्रतिष्ठित, पुण्यशील, पवित्र हो सकती है, परन्तु मैंने इसमें निवास किया है···अन्दर उसके दुष्टता है। मेरे श्वसुर ने, होली के त्यौहार पर, मुझे एक काम करने को कहा जो मैंने उस समय किया, परन्तु मेरे अन्दर से

एक आवाज ने कहा कि वह अधर्म है।...१६ वर्ष की आयु तक मुझे कुछ भी धर्म-शिक्षा नहीं मिली थी। मैं वही करता था जो मेरे सम्बन्धी करते थे वा जो मेरा पापमय हृदय प्रेरित करता था।...बहुत-सी अवस्थाओं को केवल आधे दर्जन आदमी जानते थे, जो पाप मैं करता था और हजारों अवस्थाओं में मेरे सिवाय मेरा ईश्वर ही जानता था...मेरे स्कूल के जीवन में मुझे बड़ी सहायता मिलती थी; मैंने पढ़ना सीखा था और जब मुझे "संत मैथ्यू" की बाइबल मिली तो मेरा उससे बहुत प्रेम हो गया। क्लास में जो रीडरें पढ़ाई जाती थीं उनसे बाइबल के इतिहासों की बहुत घटनाओं का ज्ञान हुआ......

"बप्तिस्मा लेने के पश्चात् सैनिक के रूप में मेरी यात्रा प्रारम्भ हुई। मैंने विश्वास किया कि मेरे पाप क्षमा हो गये हैं परन्तु मैं एकदम पापों से मुक्त नहीं हो गया। मैं निरन्तर दिन-रात अन्तरीय युद्ध में लग गया।..." (पृ० १९,२०)

यह लम्बा उद्धरण इसलिए दिया गया है कि पाठकों को इस बात का पता लग जावे कि क्यों पहले दिनों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, उच्च वर्ण के लोग ईसाई होते थे। इसी प्रश्न के उत्तर से यह भी समझ में आ जायगा कि अब क्यों उच्च जातियों के हिन्दू ईसाई नहीं होते। अपने वैदिक धर्म में जो रत्न भरे पड़े हैं वे पौराणिक पंडितों की बदौलत ताला-बन्द पड़े थे और हिन्दू घरों के अन्दर स्वार्थ और अन्धविश्वास का राज था। बंगाल में राजा राममोहन राय के प्रयत्न से जो थोड़ा-बहुत ईसाइयों का काम बन्द हुआ था, वह बाबू केशवचन्द्र सेन के अंग्रेजीपन के कारण पुनः फैल चला था; परन्तु संयुक्त प्रांत, पंजाब, राजपूताना और मुम्बई प्रान्तों में ऋषिवर दयानन्द के उपदेशरूपी घन की चोटों से अन्धविश्वास की कड़ी साँकल कटकर सत्य विद्या, वेद का प्रकाश हुआ और फिर हिन्दुओं का ही नहीं मुसलमानों का भी ईसाई होना बन्द हो गया। सैयद अहमदखाँ और मिर्ज़ा गुलाम अहमद कादियानी ने दयानन्द से ही कुरानी नई तफ़सीर की विधि सीखी और तर्क ऋषि का धर्म के मामलों में भी स्वागत किया।

मुसलमानों में ईसाई काम

दिल्ली के मुसलमानों में से सबसे पहला पुरुष जिसने ईसाई मत स्वीकार किया "अबुलमसीह" था जिसे विशेषकर (लाट पादरी) "हीवर" ने, सन् १८३६ में, बप्तिस्मा दिया। दूसरा, बादशाह बहादुरशाह का अनुचर 'गुलाम निसार' था जो प्रोफ़ेसर रामचन्द्र की संगत से परिवारसहित ईसाई बना। फिर 'विलायत-मसीह' ने बप्तिस्मा लिया। सन् १८५७ के ग़दर में मुसलमानों ने विलायतमसीह को मार डाला था। दिल्ली के मुसलमानों में केम्ब्रिज ईसाई मिशन ने जो काम किया उसको 'केम्ब्रिज मिशन की कहानी' के ग्रन्थ-कर्त्ता के शब्दों में ही सुनना चाहिए। वह लिखते हैं—

"यहूदी मत के अतिरिक्त कोई अन्य मत नहीं है जिसका ईसाई मत पर मुहम्मदी मत से बढ़कर अधिकार हो; क्योंकि अन्य कोई मत इसके इतना समीप नहीं पहुँचता। यदि 'सन्त पाल' पहले यहूदियों की ओर झुका तो यह आशा ही की जाती थी कि मिशनरी हिन्दोस्तान में पहले मुहम्मदियों की ओर झुकेगा। जिस प्रकार "पाल" की अपील अकृतकार्य रही वैसे ही सम्भव है कि यह भी हो, परन्तु अपील होनी चाहिए। और जिस प्रकार हिन्दोस्तान मुहम्मदीयत की कुञ्जी है वैसे ही दिल्ली मुहम्मदी मत की कुञ्जी है......परन्तु यह कर्त्तव्य कैसे पूरा किया जावे? बाजार-प्रचार से कुछ आरम्भ हो सकता परन्तु उच्चकोटि-वाले, जिन तक 'केम्ब्रिज'वाले पहुँचना चाहते थे, ऐसे प्रचार में आते नहीं और न बाज़ार का कोलाहल और शोर-शराबा विवाद के लिए उचित स्थान है क्योंकि उस (विवाद) में क्रमबद्ध विचार की आवश्यकता होती है और वह अधिकतः पारिभाषिक हुआ करता है......" (पृ० ३२) तब सभ्य मुसलमानों तक पहुँचने का क्या यत्न किया जावे? एक मार्ग निकल आया। मुसलमानों ने "मिशनरी लीफ्राय" को मस्जिद में आकर विचार करने का निमन्त्रण दिया। वहाँ ३०० की उपस्थिति थी और आधे दर्जन मौलवी किताबें लिये बैठे थे। शनैः-शनैः उपस्थिति १००० तक पहुँचने लगी। तब एक प्रचार-भवन अपना बनवाया गया। उन्हीं प्रचारों से प्रभावित होकर एक चेला मसीह के गल्ले में आया, जिससे दिल्ली की गली-गली परिचित है। वह अन्धा ईसाई प्रचारक "अहमदमसीह" है। कहानी ऐसे चलती है—

"यह मनुष्य बहुत देर से बाज़ार के काम का बड़ा दृढ़ विरोधी था और एक बार उसके बलात्कार का वेग इतना बढ़ गया था कि पुलिस के दखल देने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। उसके पश्चात् वह बहुत शांत रहा (शायद पुलिस के डर से—**अनुवादक**) और जिस मस्जिदवाली सभा का ज़िक्र ऊपर आया है उसका अहमद मसीह सभापति था। उस समय एक मुसलमान तार्किक के उलझ जाने पर, यह सभापति सबको हैरानी में डालकर उठ खड़ा हुआ और बोला कि लोगों को मालूम होना चाहिए कि कुछ गत समय से मैं ईसाई विश्वास पर गम्भीरता से सोच रहा हूँ और यदि और कोई दलील नहीं है तो मैं पादरी का हाथ पकड़-कर मस्जिद छोड़, इसी रात ईसाई हो जाऊँगा।" (पृ० ३४, ३५) अहमद मसीह ने फिर प्रचार के समय ईसाई मिशनरी के हाथ से गिलास लेकर पानी पी लिया। इसपर भी बड़ा शोर मचा। परन्तु अहमद मसीह की दशा विचित्र थी। एक दिन वह बाजार में ईसाइयों के विरुद्ध खड़ा हो जाता और दूसरे दिन घण्टों मिशन हाउस में गोष्ठी करते हुए बप्तिस्मा माँगता। अन्त को उसने दृढ़ विचार बप्तिस्मा लेने का कर लिया। बाजे-गाजे के साथ उसको प्रचार-भवन में लाया गया—

"मिस्टर लीफ्राय ने विज्ञापन के अनुसार अपना व्याख्यान दिया और जितने समय तक वह बोलते रहे एक प्रसिद्ध मौलवी गली के दूसरे ओर की मस्जिद पर खड़ा घोर निन्दित भाषण करता रहा; बड़े समूह इकट्ठे होते और जोश से 'हाल' में आते-जाते रहे। आकर्षण सबके लिए बहुत था; अन्धे मौलवी के लिए बहुत ही बड़ा सिद्ध आ और जब अन्त को वह खड़ा हुआ तो कुछ देर तक उसने टालकर कुछ व्याख्यान के विषय पर प्रश्न पूछे और फिर गिर गया और मुहम्मदी मत पर लङ्गड़ा-सा विश्वास प्रकट करके विजय के साथ ले-जाया गया।"

दूसरे दिन फिर वह फाँसी (Cross) के नीचे रोने लगा और फिर बहुत दिनों के साधनों के पीछे उसे चुपके-से एक शाम को बप्तिस्मा दे दिया गया।

एक और बार न्यूनता हुई जिसमें कि हमें नहीं जाना चाहिए।" (पृ० ३६)

अन्तिम न्यूनता का ज़िक्र भी ग्रन्थकर्त्ता को कर देना चाहिए था, जिससे मालूम हो जाता कि ईसाई बनाने में किस प्रकार की नीतियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं। जब अहमद मसीह ईसाइयों का विरोध करता था उस समय तो पुलिस का भय दिलाकर उसका मुँह बन्द किया जा सकता था, परन्तु अब जब कि वह स्वयं अपने हाकिमों के मत का प्रचारक है तो उसके गन्दे हमले और तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण प्रहार पर भी पुलिस के कानों पर जूँ नहीं रेंगती। परन्तु अब तो वही लोकोक्ति चरितार्थ हो रही है कि—सय्याँ भए कुतवाल अब डर काहे का! एक गाल पर थप्पड़ मारनेवाले के सामने दूसरी गाल भी पेश कर देने का उपदेश देने वाले "मसीह" का नामधारी विवाद और प्रचार में गंद और गालियों की सरे-बाज़ार बौछाड़ करे—यह दृश्य ईसाई जगत् के गौरव को बढ़ानेवाला नहीं हो सकता।

सन् १६०० ई० में मौलवी गुलमुहम्मद ने बप्तिस्मा लिया। यह अलीगढ़ में सर सय्यद अहमद के संग में पला था—ऐसा ग्रन्थकार ने लिखा है। गुलमुहम्मद को अपने बच्चों (एक लड़का और एक लड़की) की संरक्षा का अधिकार प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई हुई, परन्तु अन्त को दोनों बच्चे उसे मिल गये। इसके पश्चात् कोई और मुसलमान दिल्ली के मिशनरियों के हत्ते नहीं चढ़ा, परन्तु पादरियों को यह तसल्ली है कि—"दिल्ली के काम को इस शाखा (Conversion) का मूल्य वास्तविक मन-परिवर्तन से नहीं आँकना चाहिए, प्रत्युत परस्पर के बेहतर समझौते और अन्वेषण के भाव से जो कि उस (काम) का परिणाम हुए हैं। दिल्ली के मुसलमान पहले की अपेक्षा अब ईसाई कहानी के अनुसार, ईसा-मसीह के जीवन और काम के विषय में अधिक जान गये हैं; यह क्या कुछ कम लाभ है? जब हम अपने मत के सम्बन्ध में गत समयों के दृढ़ पक्षपात पर विचार करते हैं तो यह बहुत मालूम होता है।" (पृ० ३८,३६)

ग्रन्थकर्त्ता की अन्तिम अपील यही है कि मुहम्मदियों को मसीह के गल्ले मे लाने के लिए केम्ब्रिज से और योग्य आदमी लाए जाने चाहिएँ।

हिन्दू अछूतों में ईसाई काम

द्विज हिन्दुओं और शिक्षित सभ्य मुसलमानों को ईसा की भेड़ों के गल्ले में दाखिल करने में नाकामयाब होकर दिल्ली के ईसाइयों ने भी वही कार्य आरम्भ कर दिया जो अन्य स्थानों के मिशन करते चले आए हैं। सुशिक्षित और उच्च श्रेणी के हिन्दू-मुसलमानों पर ईसाई मिशनरी कभी कृतकार्य हो ही नहीं सकते थे। सन् १७६१ में प्राचीन भारत पर एक ऐतिहासिक दृष्टि डालते हुए प्रसिद्ध ऐतिहासिक डॉक्टर विलियम राबर्टसन, डॉक्टर ऑव डिविनिटी (William Robertson, D. D.) ने लिखा था—"एक प्रवीण लेखक लिखता है कि गत दो सौ वर्षों में मिशनरियों के प्रयत्न और ईसाई जातियों की विविध संस्थाओं के (जो उनका पालन और उनकी रक्षा करते हैं) परिश्रम से दस करोड़ हिन्दुओं में से १२ हजार भी ईसाई नहीं हुए और **उनमें लगभग सब चांडालों में से हैं।**"

उन्हीं अति शूद्रों और अछूतों पर दिल्ली के मिशन की भी दृष्टि जा पड़ी— "ग़दर (सन् १८५७) से पहले भी चमारों में ईसाई बनने की हलचल मालूम होती थी। मिस्टर 'स्केल्टन' के पहुँचने पर (गदर के पश्चात्) बहुत-से (चमारों के) परिवार उनसे शिक्षा ग्रहण करने लगे।" (पृ० ४२)

"सन् १८७० के साथ ही यह स्पष्ट हो गया कि जिनकी ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए वे चमार हैं जो देहली के विविध विभागों में चमड़े का काम करते हैं। ये चमार शूद्रों के अनगिनत विभागों में से एक हैं अर्थात् जिन चार जातों में हिन्दू विभक्त हैं, उनमें सबसे निचले दर्जे पर; और इसलिए कि उनके व्यवसाय में मरे हुए पशुओं के चमड़े को बराबर हाथ लगाना पड़ता है, वे अपवित्र समझे जाते हैं। देहली शहर में इनकी संख्या दस-बारह हजार है और शहर का ये पन्द्रहवाँ भाग हैं। रोटी-बेटी के मामले में उनके अपने ही नियम और रिवाज हैं और यद्यपि वे जाति-बाह्य लोग हैं तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं कि एक चमार सहज में अपनी बिरादरी से अलग हो सके। धार्मिक विश्वास के लिहाज से ये लोग कुछ ऐसे पैगम्बरों के अनुयायी हैं जिनका उद्भव ईसा की सोलहवीं शताब्दी में हुआ और जिन्होंने मुसलमानों के एकेश्वरवाद के साथ हिन्दुओं के अद्वैतवाद को मिलाया हुआ था। क्रिया में चमार मूर्ति-पूजक होता है; उसके मत की विशेषता यह विश्वास है कि गुरु बिना गति वा मुक्ति नहीं मिल सकती। इस विश्वास के कारण चमार को झूठे शिक्षक बहका सकते हैं, तथापि **दूसरी ओर मिशनरी के लिए यह (गुरु में विश्वास) काम का है क्योंकि वह (मिशनरी) मसीह को सच्चा गुरु बतला सकता है,** मसीह के गल्ले में लाने का

यह बड़ा सुगम साधन है और इससे ईसाई मत की सचाई उनकी शिक्षा की सरलता की परीक्षा भी हो जाती है।

"सन् १८७३ में लगभग २६ (चमारों) ने बप्तिस्मा लिया। चमार-स्कूल खोले गये और **मिस्टर विण्टर** ने शहर को प्रान्तों वा विभागों में विभक्त किया और प्रत्येक के ऊपर उन्होंने, एक देशी इंजील-पाठक को और जहाँ सम्भव था वहाँ एक यूरोपियन मिशनरी को, नियत किया। यह प्रबन्ध ठीक चला और हमारे समय तक चला आता है······१२ महीनों में ६० आदमियों ने बप्तिस्मा के लिए अपने नाम लिखाए और सन् १८७७ में, जब हिन्दुस्तान के लाट पादरी बिशप जानसन दिल्ली में, लाहौर के अलग धर्म-क्षेत्र बनने पर, अन्तिम बार आए, उस समय २०० चमारों ने सेण्ट स्टीवन के गिरजा में बप्तिस्मा लिया। इस समय (१८७७ ई०) तक ८०० चर्च में लाए जा चुके (ईसाई बन चुके) थे।" (पृ० ४१, ४२) इतने चमार ईसाई मत की शरण में क्यों आए? क्या धर्म की मीमांसा की योग्यता द्विजों की अपेक्षा इन चमारों में अधिक थी? उत्तर ईसाई मिशनरी के शब्दों में ही सुनिए—

"हमें इस बात को स्पष्टतया मान लेना चाहिए कि **इस (चमारों की) बड़ी संख्या को ईसाई मत की ओर ईसाई मन्तव्यों के सौन्दर्य तथा आत्मबल ने नहीं** खींचा था; इसमें सन्देह ही है कि किसी समय में भी किसी देश में भी (हमारे टापू समेत) किसी मत की ओर कोई सार्वजनिक गति अशिक्षित समूहों की ओर से, बिना किसी गौण कारण के हुई हो। जाति-बाह्य पुरुषों पर ऊँची जाति वालों **का अत्याचार, एक बड़े दुष्काल का धार्मिक प्रभाव, शिक्षा या सामाजिक उन्नति की इच्छा, हम इन गौण कारणों को १८६० और फिर १८७७ में वैसा ही दिल्ली में काम करते देखते हैं जैसा कि अन्य स्थानों में।** इन हेतुओं को नीच वा अनर्ह कहना उचित नहीं·······"

८०० चमार ईसाई तो बना लिये परन्तु ईसाई मिशनरी एक भूल करते रहे। वे पुरुषों को ईसाई बनाकर उनकी स्त्रियों को वैसे ही छोड़ देते रहे। चमार भी ईसाई मिशनरी को विश्वास दिलाते रहे कि स्त्रियाँ स्वयं ही पीछे आ जायेंगी, परन्तु उन स्त्रियों के मत-परिवर्तन के लिए ईसाई चमार कुछ भी प्रयत्न नहीं करते रहे। और बेचारे करते भी कैसे जब स्वयं ही ईसाई मत के मूल सिद्धान्तों से अभिज्ञ थे? मिशनरी ने उन्हें अपनी बिरादरी में ही छोड़ दिया। शायद मिशनरी ने इतना ही पर्याप्त समझा कि ८०० के बप्तिस्मा देने का समाचार ही मिशन के संचालकों को सन्तुष्ट कर देगा और ८०० ईसाई चमार खमीर की तरह अन्य चमारों में मिलकर ८००० को प्रभावित कर देंगे। परन्तु परिणाम उलटा निकला—"सारी जमात को खमीरी बनाने के स्थान में ये नाममात्र के ईसाई अपने जीवन और आचार में अपने मूर्तिपूजक पड़ोसियों से बहुत कम

भिन्नता रखते थे।" (पृ० ४५) तब एक और ढंग सोचा गया। चमार ईसाइयों के उपनिवेश बनाए गये। एक आँगन के गिर्द उनके मकान बनाये गये। पहला परीक्षण दरियागंज में हुआ। उन परिवारों के लिए आवश्यक किया गया कि जन्म, विवाह और मृत्यु पर ईसाई आचार का पालन करें और अफ़ीम की तरह के एक नशे [शायद पोश्त] से परहेज़ करें। मद्य से बचने की कोई हिदायत न दी गई, शायद इसलिए कि बिना उसके पिये ईसा का लहू पीकर पवित्रता नहीं आती। अस्तु। इस परीक्षण में पहले बड़ी कठिनाई हुई। अपनी पुरानी बिरादरी से अलग हुए बिना ईसाई रस्मों का पालन नहीं हो सकता था और उसके लिए सब तैयार न थे। अन्त को सब ईसाई चमारों का एक बृहदधिवेशन बुलाया गया। गर्मी की एक रात को (सन् १८८४ ई० में) यह नाटक किया गया। इसका वर्णन मिस्टर लीफ़ाय ने इस प्रकार किया है—"हम दरियागंज बस्ती में आधी रात के समीप पहुँचे·········रात अँधेरी थी और आँगन में प्रकाश धुँधला था········ प्रथम हमारे इंजील-पाठक ने उठकर उन घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन किया जिनके कारण जलसा बुलाया गया और उन सबको सम्मिलित होने के लिए धन्यवाद देकर हमारे चौधरी और आदमियों को अपना काम करने को कहा।" इसके पश्चात् एक-एक ने उठकर अपनी पुरानी बिरादरी के उपकारों का वर्णन करके कहना आरम्भ किया कि "अब वे अपने नए ईसाई जीवन की उस अवस्था में पहुँच चुके हैं जिसके कारण उनके लिए पुरानी मित्रताओं को निभाना कठिन है इसलिए वे कहना चाहते हैं कि भविष्यत् के लिए जहाँ वे बहुत आदमियों को, प्रसन्नता से, अपने मित्रों में गणना करेंगे वहाँ चमार-बिरादरी से उनका कोई सम्बन्ध न रहेगा, वे उसके आधिपत्य को नहीं मानेंगे और न उसके अधिवेशनों में सम्मिलित होंगे। यहाँ तक तो सब-कुछ निर्विघ्न हुआ·········और तब सन्नाटा हो गया और हम सब उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहे थे कि ऊँट किस करवट बैठता है। प्रश्न यह था कि क्या वे उठ खड़े होंगे और इस कार्यवाही को चुपके से शनैः-शनैः काम करने देंगे या ईसाइयों को चुनने लगेंगे?"

बहुत देर तक गोष्ठियाँ हुईं और शोर मचा, परन्तु फिर निश्चय यही हुआ कि ईसाई चुन लेने चाहिएँ। ईसाई चुनने की विधि बड़ी विचित्र थी; इसे पादरी साहब को ही वर्णन करने देना चाहिए—"स्पष्टतया लोकमत यही मालूम होता था कि ईसाइयों का अनुसन्धान करना चाहिए। इसकी विधि यह थी कि **मध्य में गंगाजल का एक घड़ा रख दिया गया** (जो कि शपथ में हमारी इंजील (Bible) का स्थान लेता है) और जो ईसाई समझे जाते थे उन्हें बुलाया जाता और कहा जाता कि उसे [गंगाजल को] पूजा के लिए माथे पर लगाओ और यदि वे ऐसा करने से इनकार करें तो उन्हें बिरादरी से निकाल दिया जाय। एक व दो आरम्भिक मुश्किलें तय होनी थीं। प्रथम यह प्रश्न था कि कौन ईसाइयों को आगे

आने के लिए बुलाए ? अन्त को यह फैसला हुआ कि अपने-अपने इलाकेवालों को एक-एक करके मुखिया बुलावें। फिर उन्होंने हमसे इसके लिए गंगाजल माँगा जिसका हमने उत्तर दिया कि हमारे यहाँ इसकी माँग नहीं, इसलिए नहीं दे सकते।

गंगाजल एक लड़का कहीं से ले आया। परख शुरू हुई। पहले पाँच नाम जिनके बुलाए गये उन सबने गंगाजल माथे पर लगा लिया। पादरी साहब ने इनके नाम लिखने आरम्भ किए। फिर एक ऐसा युवक आया जिसके आचार पर बहुत-सों के ईसाई रहने वा न रहने का निर्भर था, वह चौधरी था। बाप ने उसे बहुत समझाया परन्तु उसने एक न सुनी। फिर भी उसे बुलाने से झिझकते रहे। परन्तु जब उसका नाम बुलाया गया तो उसने स्पष्ट कह दिया कि मैं ईसाई ही रहूँगा चाहे मुझे बिरादरी से खारिज कर दिया जाय। तब बहुत-से ईसाइयत में दृढ़ रहे। परन्तु फिर भी नियम बहुत शिथिल थे इसलिए यह निश्चय हुआ कि (१) "सब ईसाइयों के ऐसे बच्चों को बप्तिस्मा लेने के लिए लाया जावे जिन्होंने बप्तिस्मा नहीं लिया और अपनी स्त्रियों को शिक्षा दिलावें जिससे वे बप्तिस्मा ले लेवें। (२) अपनी सन्तान के नाते ईसाइयों में करें और (३) ऐसे मेलों और संस्कारों में न शरीक हों जहाँ मूर्तिपूजा होती हो। अन्तिम मामला एक आम जलसे वा ईसाइयों की पंचायत में हुआ कि जो मिशन हाउस के अहाते में २५ मई, १८८७ को हुआ था। उपर्युक्त शर्तों को स्वीकार किया गया, सबको उनके पालन के लिए अनुरोध किया गया और च्युत होनेवालों को एक मौक़ा और दिया गया।" उस समय ६६० ईसाई चमार इकट्ठे हुए थे। उनमें से केवल २६० रहे और ७०० का नाम काट देना पड़ा। फिर केवल यह काम रह गया कि गुमराह (भेड़ों) को गल्ले में लौटाया जाय और कड़ी यन्त्रणा से उनके जीवन और आचार का आदर्श उच्च बनाया जावे।"

पादरी साहब बतलाते हैं कि उसके पीछे चमारों की अधिक संख्या इकट्ठी ईसाइयत की ओर नहीं झुकी, यद्यपि विचले हुओं में से लौटनेवालों की संख्या बढ़ती गई है। ईसाई चमारों को बिरादरी के प्रलोभनों से बचाने के लिए उनकी जुदी बस्तियाँ (दरियागंज के नमूने पर) बसाई गई हैं, जिससे उनमें ईसाई आचार का दृढ़ता से संचार हो सके।

पण्डित जानकीनाथ को बप्तिस्मा देने के पीछे हिन्दू द्विजों से और गुलमुहम्मद को बप्तिस्मा देने के पीछे मुसलमान शरीफ़ों में से कोई ईसाई नहीं हुआ। केम्ब्रिज मिशन दिल्ली ने बड़े समारोह और उत्साह से सेण्ट स्टीवन्स स्कूल और कॉलिज चलाया। स्कूल तो सन् १८५७ के ग़दर से पहले ही खुला था और सन् १८७७ में बड़ी उन्नति पर हो गया था। फिर जब धनाभाव से वह गवर्नमेण्ट कॉलिज बन्द हो गया, जिसमें मास्टर रामचन्द्र गणित के प्रोफेसर थे, तो मिशन ने, सन् १८८१

के आरम्भ में अपना कॉलिज खोल दिया। इसने भी ईसाई बनाने के नियमबद्ध काम में कुछ भी सफलता लाभ नहीं की, क्योंकि ईसाई मिशनरी ने स्वयं माना है कि "कॉलिज के आरम्भ से अब (सन् १९०८ ई०) तक एक विद्यार्थी ने भी वास्तविक बप्तिस्मा नहीं लिया; हाँ, कुछ ने दिखलावे में सचाई से ईसाई धर्म पर विश्वास प्रकट किया है, परन्तु ऐसे इक़रार से तसल्ली नहीं होती जब तक कि ऐसा आदमी प्रत्यक्ष प्रकार से बप्तिस्मा लेने को आगे न बढ़े क्योंकि भारतवर्ष में बप्तिस्मा ही सच्चे विश्वास की कसौटी है……" (पृ० ३९)

हिन्दू द्विजों और मुसलमान शरीफ़ों में काम बन्द होने पर मिशन ने रोहतक में एक शाखा खोली और जाटों में कार्य आरम्भ कर दिया। उस ज़िले में एक तो **यमुनादास (जाट साधु)** को और दूसरा **निगयूर जाट** को बप्तिस्मा देना लिखा है। फिर गुड़गाँव और करनाल के जिलों में भी दिल्ली मिशन की शाखाएँ खोली गईं। यद्यपि इन सबमें कोई स्पष्ट मत-परिवर्तन जाटों के अन्दर नहीं हुआ, परन्तु मिशनरी को आशा है कि किसी काल में यहाँ के जाट झुण्ड-के-झुण्ड ईसाई होंगे। सन् १९०८ में यह आशा की गई और सन् १९०७ से ही रोहतक पर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का प्रकोप हो गया था। आर्यसमाज का प्रचार भी लगभग जबरदस्ती बन्द कर दिया गया था। परन्तु गत १० वर्ष में आर्यसमाज ने इतना काम किया कि फ्रांस और मेसोपोटामिया तथा पेलेस्टाइन के मैदानों से जाट बहादुरों के पत्रों में नमस्ते ही लिखी आ रही है और रोहतक तथा करनाल के दोनों जिलों में दो गुरुकुल खुले हुए हैं तथा गुड़गाँव और दिल्ली के जिलों का साँझा गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ है। जाटों के झुण्ड-के-झुण्ड ईसाई तो नहीं हो रहे प्रत्युत आर्य उपदेशकों से यज्ञोपवीत लेकर हवन का सुगन्धित धुआँ आकाश में फैला और हरि-कीर्तन से आकाश को गुँजा रहे हैं।

यह सिद्ध है कि दिल्ली के आसपास के ज़िलों में सिवाय अछूतों के और किसी भाग में भी ईसाई कृतकार्य नहीं हो रहे हैं। पंजाब में, संयुक्त प्रान्त में, मद्रास में—जहाँ कहीं भी देखा मिशनरियों की खेपें अछूतों में ही लदती हैं। दिल्ली के विषय में पादरी लिखते हैं—"दिल्ली के गिर्द के ज़िले तथा ख़ास दिल्ली में ईसाइयों की सबसे बड़ी कृतकार्यता चमारों अर्थात् चमड़े का काम करनेवालों में हुई है। इनमें से अधिक ग्रामों में अपना काम करते हैं, और जूते बनाकर दिल्ली में बेचने को लाते हैं। ग्रामों में भी वे कमीनों का काम करते हैं और उसके बदले उनके कुछ अधिकार हैं और ग्राम उनका विशेष स्थान है। प्राय: वे ग्राम के एक अलग विभाग में रहते हैं क्योंकि जाट लोग तथा अन्य कृषिकार उनसे घृणा करते हैं और उनकी लम्बी गुलामी का दाग़ उनकी जमाअत पर लग गया है जिससे अन्यों के मुक़ाबिले में वे दबते हैं।……(पृ० ८४) **कुतुब** से ५ मील आगे एक **फतहपुर** ग्राम है जिसमें चमार ईसाइयों का एक गिर्जा भी है। उसपर ३०० रु० चन्दा करके चमारों ने

स्वयं भी लगाया था। यहाँ के चमार कुछ कृषिकार भी हैं। पहले ये लोग ग़ैर-मौरूसी काश्तकार थे। मिशन ने सौ एकड़ जमीन खरीदकर इन्हें जोतने-बोने को दी और अब इनका मालिक ईसाई मिशन है। मिशनरी महाशय लिखते हैं कि फतहपुर ही दिल्ली प्रांत में ईसाई मिशन का एक चमकीला स्थान है जिसका कारण यह है कि वहाँ की ईसाई भेड़ों को एक हिन्दुस्तानी गडरिया मिला हुआ है, जिसकी मानसिक योग्यता चाहे कुछ भी नहीं है परन्तु वह भेड़ों के गल्ले को काबू रखना जानता है।

जो कहानी दिल्ली मिशन की है वही लगभग भारतवर्ष के अन्य सब प्रांतों के मिशनों की है। इन सबका काम उन पुरुषों के अन्दर हो रहा था और हो रहा है जिन्हें हिन्दू अपनी मूर्खता से अछूत समझते हैं। इन गिराई हुई जातियों को भी ईसाइयों के पंजे से छुड़ाने का यत्न आर्यसमाज कर रहा है। "गिराई हुई" मैं इसीलिए कहता हूँ क्योंकि वे स्वयं नहीं गिरीं बल्कि उन्हें पौराणिक हिन्दूदल ने, अविद्या में फँसकर, गिरा रक्खा है। कैसी आश्चर्य की बात है कि एक मद्य-मांस का सेवन करनेवाला वाममार्गी पहाड़ी केवल ब्राह्मण नामधारी माता से जन्म पाने के कारण तो ब्राह्मण कहलाए, परन्तु एक मद्य-मांस-त्यागी हरि-कीर्तन करने-वाला सदाचारी मज़हबी, रहतिया, रमदासिया, अंत्यज और अछूत समझा जाय ! परन्तु इस विषय पर अब किसी लम्बे विवाद की आवश्यकता नहीं है। आज सभी हिन्दू मान रहे हैं कि अछूतों को शुद्ध करके मिला लेना चाहिए और उन्हें अपनी जाति की सीमा से बाहर नहीं जाने देना चाहिए। इस बड़े और अत्यन्तावश्यक कार्य में कृतकार्यता कैसे हो? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ही मैंने भूमिका-रूप से यह लेख आरम्भ किया था और अब भूमिका के समाप्त होने पर असली प्रश्नों पर आता हूँ। परन्तु इनका उत्तर देने से पहले आवश्यक है कि अछूतों की इस समय की स्थिति पर विचार कर लिया जाय।

जब पहले-पहल अछूतोद्धार का काम पंजाब में शुरू हुआ और लाहौर में रहतियों को शुद्ध करके उनका आर्यसमाज में प्रवेश-संस्कार कराया गया था, उस समय हिन्दू जनता की ओर से बहुत विरोध था। सियालकोट में मेघों की शुद्धि तथा मुलतान और मुजफ्फरगढ़ में ओडों की शुद्धि बड़े विरोध के मुकाबिले में हुई थीं। परन्तु इस समय राजनैतिक लहर ने वह सब अवस्था बदल दी है। जब मद्रास के शनारों पर हिन्दू अत्याचार होने के कारण आर्यसमाज का डेपुटेशन उधर गया था, यदि उस समय मद्रास के ब्राह्मण राजनीतिज्ञ उनकी बात सुनकर अपनी क्रूर नीति को बदल लेते तो आज डॉक्टर नायर के पीछे सहस्रों अब्राह्मण अपने देश के उद्धार के मार्ग में काँटे बिछाने को न खड़े हो जाते।

राजनीतिज्ञों की आँखें उस समय खुलीं जब पूर्वीय बंगाल के "नाम शूद्रों" ने बंगविच्छेद के विरुद्ध हलचल का मुकाबिला करते हुए अपने-आपको बंगाल के

हिन्दुओं से अलग करना चाहा था। वह राजनैतिक लहर ऐसी चली कि सम्वत् १९६९ में काशी के प्रसिद्ध पं० श्री शिवकुमार शास्त्री ने भी भरी सभा में डोमों को आसन दिलवाया और उनको हिन्दू जाति के स्तम्भ बतलाया था। इस परिवर्तन का कारण क्या था ?

जब तक प्रसिद्ध अछूत लोग सिर झुकाकर हिन्दुओं की मार खाए चले जाते थे तब तक तो गिरे हुए हिन्दुओं ने गुलामों की भाँति दबैलों को सताना और "मुये पर सौदर्रे" वाली मसल पर अमल करना अपना दस्तूरुल-अमल बनाये रक्खा। परन्तु अछूत तंग आये हुए थे। उन्होंने इन सब अत्याचारों से मुक्त होने के लिए राजधर्म की शरण ली। ये लोग कुछ नहीं समझते थे कि मज़हब किस चिड़िया का नाम है। आजकल अशिक्षित लोग किस प्रकार ईसाई होते हैं उसका एक नमूना लीजिए। बहुत वर्ष हुए पंजाब में दुष्काल था। जालन्धर में छोटे पादरी न्यूटन (Rev. Newton) काम करते थे। वहाँ के सबसे पहले पादरी गोकुलनाथ थे जिनके स्मारक में गिर्जा बनवाने के लिए रुपया जमा था। पादरी न्यूटन साहब ने वह काम जारी कर दिया। जो मसीह पर ईमान लाता उसको ही टोकरी पर रख लिया जाता। मजदूर उधर प्राय: मुसलमान ही होते हैं। एक बप्तिस्मा लिये हुए को "मेट" बनाया हुआ था। वही मुर्गे फाँसकर लाता था। फत्तू मुसलमान राईं बेकार बैठा था। उसने मेट से कहा कि मेरा रोजगार लगवा दो। मेट ने समझा दिया कि पादरी साहब के सामने मसीह पर ईमान लाने का इक़रार कर ले तो टोकरी का काम मिल जायगा। फत्तू ने पादरी न्यूटन को सलाम करके अपनी ठेठ पंजाबी में कहा "पादरी साहब ! मैं हसाई होण आया हाँ।" पादरी साहब ने पूछा, "क्या मसीह पर ईमान लाने को तैयार है ?" उत्तर हाँ में मिला। तब पादरी साहब उसकी परीक्षा लेने लगे—

पादरी बोले "मसीह क्यों सलीब पर चढ़ा ?" मेट ने समझा दिया कि पादरी साहब का मतलब है कि "मसीह काहे क्यों चढ़या ?" फत्तू ने उत्तर दिया—"कुछ ख़ुनाम्मी कीत्ती होणी है" अर्थात् कुछ अपराध किया होगा। फत्तू की उसी समय गर्दन नापी गई। फत्तू हैरान था कि यह क्या हुआ, रंग में भंग कैसे पड़ा ? मेट ने समझाया कि आगे को पूरी तैयारी करके चलना। तीसरे दिन फत्तू की फिर पेशी हुई और वह काम पर लग गया, परन्तु जब घर में खेती ठीक हो गई तो फत्तू ने "कलेमा" पढ़ लिया और अपने परिवार में जा शामिल हुआ। यह एक नमूना है उन कारणों का जो ईसाई पादरियों को अपनी कारगुज़ारी दिखाने में सहायता देते हैं।

काशी के डोम ईसाई होते क्यों हैं ? इसलिए कि ईसाई होते ही उनकी निगरानी पुलिस की ओर से बन्द हो जाती है और उन्हें आर्थिक सहायता मिलती है। दिल्ली प्रान्त के चमार क्यों ईसाई होते हैं ? इसलिए कि उनकी बेगार बन्द

हो जाती है। ईसाई होकर डोम और चमार कुछ बदल नहीं जाते, वही पुराने काम करते हैं। परन्तु पुलिस पर पादरी साहब का दबाव है। पुलिस समझती है कि अपने मत के पुरोहित का हित अंग्रेज आफ़ीसर अवश्य करेंगे। इसलिए वे भी चमारों से बेगार लेने में घबराते हैं। किन्तु वही ईसाई चमार जब आर्य बनकर मद्य-मांसादि के सेवन से मुक्त हो जाता है तो तहसील और पुलिस के सिपाही उन्हें बेगार में लगाने के लिए यमदूतों की तरह आकर चिमट जाते हैं। तब चमार घबरा जाता है और आर्य पुरुषों से फरियाद करता है। वह आशा रखता है कि आर्य पुरुष उसे इस अत्याचार से बचा सकेंगे, और अब ऐसा नहीं होता तो फिर प्रलोभन में फँसकर ईसाई कारिन्दों के हत्ते चढ़ जाता है। ईसाई मिशनरियों और मुक्तिफ़ौजवालों के पास बड़ा भारी हथियार यह है कि वे हमारे हाकिमों के सहधर्मी और सजातीय हैं। यह सब होते हुए भी हमको काम करना है।

वह काम क्या है? वह काम यह है कि ७ करोड़ के लगभग अछूतों को ईसाई होने से बचावें। प्रश्न होगा कि इसकी आर्य जाति को आवश्यकता क्यों है? उत्तर में कुछ सचाइयों और स्पष्ट घटनाओं को सामने रखना होगा।

अछूतों को ईसाई होने से क्यों बचाया जाय?

आत्मा की आवाज़ सुनकर जो हिन्दू पहले-पहल ईसाई हुए वे कलकत्ता में डॉक्टर डफ़ के प्रभाव में आकर अपने परिवारों से जुदा हुए थे, इसीलिए वे ईसाई होकर अंग्रेज नहीं बने थे, प्रत्युत अपने रहन-सहन में हिन्दोस्तानी ही बने रहे। रेवरेण्ड लालबिहारी देव तथा बाबू कालीचरण बेनर्जी ने कभी हैट नहीं पहनी और अपने बड़ों की चाल-ढाल को नहीं छोड़ा था। यदि उनके समय में ऋषि दयानन्द का वैदिकनाद सुनाई देता तो वे, शायद, ईसाई बनते ही नहीं। जालन्धर के गोकुलनाथ और दिल्ली के रामचन्द्र और चन्दूलालादि की भी यही अवस्था थी। जब सन् १९०० ई० के आरम्भ में गुरुकुल के आरम्भिक व्यय के लिए धन एकत्र करते-करते मैं लाहौर पहुँचकर बहुत दिनों ठहरा तो एक रात मुझे नींद से जगाकर मास्टर चन्दूलाल जी मिले और गुरुकुल के लिए २० रु० का नोट देकर उन्होंने कहा था कि यदि हो सके तो आनेवाली नस्लों को भोगजीवी बनने से बचाया जावे। वे पहले हिन्दू द्विजों में से निकलकर धर्म की प्यास बुझाने के लिए ईसाई हुए थे; परन्तु अब तो जो भी ईसाई होते हैं वे अपनी सामाजिक तथा आर्थिक दशा के सुधार और उन्नत करने के लिए मत-परिवर्त्तन करते हैं।

मैं बीसियों ईसाइयों को जानता हूँ जो वैदिक धर्म की शरण में आना चाहते हैं। परन्तु उनके मार्ग में एक ही रुकावट है। ईसाई रहकर वे वालण्टियर फौज में भरती हो सकते हैं और बहुत-से अन्य अधिकार उन्हें प्राप्त हैं जो आर्यसमाज में प्रवेश करने से छिन जाएँगे। यह तो हाल पढ़े-लिखे सभ्य ईसाइयों का है।

परन्तु अनपढ़ों की दशा और ही है और उनसे भी बढ़कर अछूतों की। उनमें से यदि किसी जाति (जैसे डोम, चंगड़ इत्यादिक) पर पुलिस की निगरानी है तो ईसाई होते ही पुलिस उनकी तरफ आँख उठाकर नहीं देखती। यदि चमारों आदि से बेगार का काम लिया जाता है, तो भी ईसाई होते ही उनको वह गीदड़वाला परवाना मिल जाता है जिसे देखते ही पुलिस के भूत भाग जाते हैं और तहसील के दूत मुँह की खाते हैं।

यह स्पष्ट है कि आजकल सच्चे धर्म की तलाश में भटकते हुए तो शायद एक हज़ार में से कोई एक ईसाई होता है, शेष ९९९ तो सामाजिक अधिकारों तथा आर्थिक उन्नतियों की प्राप्ति के लिए ही बप्तिस्मा लेते हैं। तब ऐसे नव-ईसाई मत-परिवर्तन करते ही साहब लोग बन जाते हैं। वे अपने-आपको इंगलिस्तान के ख़ास फर्जन्द-अर्जमन्द समझते हैं और अपने-आपको भारतीय राष्ट्र का एक भाग समझने के स्थान में उनकी शासक-कोटि में प्रवेश के स्वप्न देखते हैं। यदि ये लोग सरल-स्वच्छ भाव से धर्म की तलाश में ईसाई होते तो उनको समझाने के लिए भी दूसरे प्रकार के सीधे मार्ग का अवलम्बन किया जाता। परन्तु जहाँ विशेष कठिनाइयों से छूटने के लिए हमारे लाखों भाई हमसे जुदा होते हैं, तो उनकी रक्षा के लिए अन्य यत्न ही करना पड़ेगा। यदि भारतवर्ष के ७ करोड़ अछूत नर-नारी द्विजों के वर्ताव से तंग आकर ईसाई हो जायेंगे तो फिर स्वराज्यवादी सनातनधर्मी लीडरों को सिवाय पछताने के कुछ हाथ न आएगा। मुझे बतलाया गया था कि प्रयाग के गत कुम्भ पर श्रीमान् पण्डित मदनमोहन मालवीय जी ने डोमों को धर्मोपदेश दिया तथा स्वयं उनमें हलवा बाँटा था। यह अच्छा ही किया गया, परन्तु अब इतने से शान्ति नहीं हो सकती। जबतक अपने इन शूद्र भाइयों को अपना ही अंग समझकर इनके साथ सद्व्यवहार न किया जायगा तबतक आर्य जाति को राजनैतिक दौड़ में जान के लाले ही पड़े रहेंगे। यह काम सनातन धर्माभिमानी हिन्दुओं से नहीं हो सकेगा। इसके लिए आर्यसमाजियों ने ही पहले भी परिश्रम किया है और अब भी वे ही इस कठिन बोझ को उठा सकेंगे।

दिल्ली प्रान्त के चमारों की रक्षा कैसे हो ?

दिल्ली का सूबा अब बहुत छोटा रह गया है। उसका क्षेत्रफल एक तहसील के रकबे से भी कम है। परन्तु दिल्ली के ईसाई मिशन का काम गुड़गाँव, करनाल, रोहतकादि, आस-पास के जिलों में भी हो रहा है। इन स्थानों के चमार क्यों ईसाई होते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में ही उनकी रक्षा का प्रश्न भी हल हो जायगा।

(१) पहला कारण इनके ईसाई होने का यह है कि समय की लहर में पड़कर ये लोग भी चाहते हैं कि इनकी सन्तान पढ़-लिख जाय। हिन्दुओं के अत्याचार

—६

के कारण साधारण स्कूलों में इनकी सन्तान को पढ़ने का अवसर नहीं दिया जाता। ईसाई जहाँ जाते हैं झट स्कूल खोल देते हैं। आर्यसमाज ने जब से चमारों को शुद्ध करने का कार्य आरम्भ किया है तब से कोई ४५० के लगभग चमार शुद्ध हो चुके हैं। परन्तु पाठशालाएँ केवल ५ तो दिल्ली शहर के विविध प्रान्तों में और एक तुग़लकाबाद तथा दूसरी फरीदाबाद में, कुल सात खुल सकी हैं। आर्य भाई पुरुषार्थ से काम करते हैं परन्तु धनाभाव से अधिक काम नहीं कर सकते। मेरा खयाल यह है कि यदि ५००० रु० वार्षिक आय के लिए एक लाख रुपयों के स्थिर कोष का प्रबन्ध हो जाय और २४००० रु० नकद पाठशालाओं की इमारतों आदि के लिए मिल जाय तो ३५ पाठशालाएँ बड़ी सुगमता से चल सकती हैं जिनमें लगभग १५०० लड़के-लड़कियाँ शिक्षा पा सकते हैं। जहाँ तक मैंने छान-बीन की है ये लोग अपने पास से भी बहुत-कुछ व्यय करने को तैयार हैं।

(२) जो ईसाई चमार आर्यसमाज में प्रविष्ट होते हैं उनको ईसाई कारिन्दा पुलिस के साथ मिलकर फिर से बेगार में धरवाने लग जाता है। आवश्यकता है कि आर्यसमाजी बने हुओं को ही नहीं, प्रत्युत सारे चमार कारीगरों को बेगार से मुक्त कराया जावे। जहाँ तक मुझे ज्ञान है पंजाब के लाट साहबों ने कई बार बेगार के विरुद्ध घोषणापत्र निकाले हैं; परन्तु तहसील और पुलिस इस कुप्रथा को बन्द नहीं होने देती। मैं इस काम में स्वयं अपने चमार भाइयों की सहायता करना चाहता हूँ। यदि २००० रु० मुकद्दमों की पैरवी के लिए जमा कर दिया जावे तो चमार लोगों को बेगार उठाने से रोक दिया जा सकता है और यदि पुलिस उनपर मुकद्दमे उठवाये वा जब्र करे तो वकीलों द्वारा उनकी रक्षा के लिए मुकद्दमों की पैरवी कराई जा सकती है।

(३) आर्य पुरुषों को चाहिए कि शुद्ध हुए सज्जनों को चमार न समझें। जब तक वे ऊपर नहीं चढ़ें तब तक भी शूद्र तो वे हैं ही और इसलिए उनके हाथ से लेकर खाने-पीने में परहेज नहीं होना चाहिए। चमड़े का व्यापार तथा व्यवसाय तो आजकल के द्विज भी करते हैं, परन्तु उनसे कुछ परहेज़ नहीं किया जाता। हाँ, इनको शुद्धताई से रहना सिखलाना चाहिए। इसके लिए पाठशालाओं के अध्यापकों से काम लिया जा सकता है और वे ही धर्म की क्रियात्मक शिक्षा भी उन्हें दे सकते हैं। दिल्ली में परमेश्वर की कृपा से, जहाँ आर्यसमाज के सभासद लाला ज्ञानचन्द जी, मा० काशीराम, लाला बेणीप्रसाद आदिक अछूतोद्धार करने के लिए बड़ा पुरुषार्थ करनेवाले विद्यमान हैं वहाँ डॉक्टर सुखदेव जी इस पवित्र काम के लिए शेष जीवन अर्पण करने को तैयार हैं। ऐसे उत्साही सज्जनों की सहायता के लिए मैं भी बहुत-सा समय देने को तैयार हूँ। जो सज्जन धर्म और देश के हित के लिए दिल्ली और उसके आसपास के ३५ या ४० हजार अछूतों को जाति का दृढ़ अंग बनाना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि धन से और तन से इस पवित्र काम में सहायता दें। इससे बढ़कर अश्वमेध आजकल और क्या हो सकता है?

निवेदक—

श्रद्धानन्द संन्यासी